भगवद्ग्रंथ-मालाका तीसरा पुष्प

पुरुषोत्तम

लेखक
तुलसीराम शर्मा दिनेश

प्रकाशक
मीरा-मंदिर, बम्बई

जून १९३९

प्रथम बार] [मूल्य २)

मुद्रक—रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, ६ केलेवाडी,
गिरगांव, बंबई नं. ४.

प्रकाशकः—तुलसीराम शर्मा दिनेश,
व्यवस्थापक, मीरा मंदिर,
३३६ ए कालबादेवी रोड, बम्बई नं. २

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वं विद्भजति मां सर्व भावेन भारत ॥

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥

राजानो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पंडिताः ।
साधवो यं प्रशंसन्ति सः पार्थ पुरुषोत्तमः ॥

श्रीकृष्णः सर्वदा स्मर्यः सर्वलीलासमन्वितः ।
भक्तैकहृदयस्थायी सकलः पुरुषोत्तमः ॥

स्मृति-सुमन

देवि !

मेरे पूज्य श्री दिनेशजी-द्वारा रचित इस 'पुरुषोत्तम' काव्य के पठन-पाठन से तुम्हें और तुम्हारे असामयिक निधन से जर्जरी-भूत मेरे हृदय को कुछ शान्ति प्राप्त हो, इसी उद्देश से इस भगवत्-चरित्र-मय चारु ग्रंथ को प्रकाशित रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

संभव है इसके द्वारा हमारे हृदयों को सच्ची शांति प्राप्त होगी।

तुम्हारा—

भगवानदास सिंहानिया

शुभैषिता

प्रिय चि० भगवानदास सिंहानिया ने जो 'पुरुषोत्तम' को सर्व-साधारण के हाथों तक पहुंचाने का सप्रेम प्रयत्न किया है, उसके लिये मैं भगवान् पुरुषोत्तम से यही प्रार्थना करता हूं कि वे आपके हृदय में अपनी अनन्य भक्तिका अजस्र स्रोत प्रवाहित करते रहें।

तुलसीराम शर्मा दिनेश

उत्थानिका

कवि और कविता

एक कुशल कवि अपने काल का निर्मल केमरा कहा जा सकता है। कवि के दर्पण में तत्कालीन परिस्थितियों का जो प्रतिबिम्ब पड़ा करता है, वह प्रतिबिम्ब जब शब्दों के रूप में अवतार धारण कर लेता है, निराकार से साकार हो जाता है, तब वही साकार हुआ लोक-व्यापी बन जाता है। उसी को विद्वत्-समाज कविता के नाम से पुकारता है।

वास्तव में कोई कवि, कविता को नहीं बनाता, प्रत्युत् उसकी कविता ही उसको कवि बनाती है। उसकी कविता के आविर्भाव से प्रथम तो वह एक सामान्य व्यक्ति कहा जाता है। जब उस मनुष्य रूप धारी हिमाद्रि से कविता-कल्लोलिनी बह चलती है तभी वह 'कवि' नाम पाता है।

महिमा तो उसी नदी की है न, जो अजस्र गति से प्रवाहित होती हुई अपने तीर के दृश्यों को अपनी छाती पर छापती चलती है। कोई अंध वेगवती सरिता, तटके वृक्षों, टीलों और झाड़-झंखाड़ों को बहाती हुई दूसरों की अनसुनी किये बही चली जाती है वह तो एक महा भयानक बाढ़ कहलाती है।

जब किसी नदी का नाद भी श्रवण-सुखद हो, उसका प्रवाह भी सहज सुख तर हो, और उसका निर्मल जल भी तृप्ति-कारक हो तभी वह लोक-रंजनी कही जा सकती है। फिर यदि वह अघ-ओघ-नाशिनी भी हो तो क्यों न लोग उसमेंसे जल की कलशियां भर-भर कर ले जायेंगे ?

एक तो वह कवि होता है जो केवल भूतकाल के गीत गाता है, पीसे को पीसता है, छाने को छानता है। उसकी भाषा और शैली चाहे कितनी भी सर्व गुण-सम्पन्न क्यों न हो, फिर भी लोक-समुदाय

उसमें रस का कम ही अनुभव करता है। कारण ? उस कवि ने जो कुछ कहा है, वह पुराना है। उसमें नवीनता का मिलाप नहीं। किसी पुराने पदार्थ को नवीन पात्रमें कितना ही क्यों न सजाया जाय, परन्तु रसज्ञ रसिकों की रसना उसको झट पुराना कह कर नये की मांग पेश करती है। हां, यदि उस पुरातनता में कवि की निजी अनुभूतियों का समावेश हो तो उसमें निश्चय ही रोचकता का अनुभव होगा। जैसे, हिन्दी कवि कुल-चूड़ामणि सूरदास। उन्होंने गीत तो नया नहीं गाया, परन्तु उसमें अनुभूतियों की तर्ज़ अपनी नई-निराली थी। जो सर्व–साधारण के हृदय में घर कर गई।

किसी भी भाषा के आदि कवि को वह कठिनाई पेश नही आती जो अंतिम कवि को। यद्यपि आदि कवि महा प्रतिभ हुआ करता है। परंतु उसको सुगमता यह रहती है कि उसको किसीकी अनुकृति दोषसे सावधान नहीं रहना पडता। वह स्वयं जो कुछ बोलता है मौलिक होता है और एक शैली कहलाती है, जैसे सूरदासजी।

कोई कवि अपने से पूर्वके जितने कवियों का अध्ययन करता है वह उतना ही काँटों में भी उलझता है। अपने पिछले कवियों की उक्तिसे कोई अनूठी उक्ति कहे तब ही वह कवियों में स्थान पा सकता है, नहीं तो नहीं। फिर प्रत्येक महा कवि अपने भावी कवियों को कहने के लिये कुछ भी शेष छोड़ कर नहीं जाना चाहता। अतः जो कवि उन रोके हुए टावों से बच कर साफ निकल जाये, वही कवियों की जमात में बैठ पाता है। परन्तु फिर भी कोई कोई प्रतिभाशाली कवि, कुछ नई और कुछ पुरानी कह कर अपने कवित्व की छाप लोक-हृदय पर लगा ही जाते हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदासजी।

गोसाईजी ने अनेक काव्य-ग्रंथों की उक्तियां अपनी रामायण में ग्रथित की हैं। परन्तु उन मणियों को अपने भाव-कुंदन में ऐसा पच्चीकृत कर दिया कि, उनकी शोभा उस कुन्दनके योगसे शताधिक देदीप्यमान हो उठी। बल्कि, हम यों कहदें कि उन मृतक उक्तियों को गोसाईजी ने जीवदान दे दिया तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। फिर इसके अतिरिक्त तुलसीदासजी के काव्य में उनके काल की ध्वनि भी

रह-रह कर ध्वनित होती है। बस, यही विशेषता कवि को अन्य कवियों से ऊँचा आसन दिलाती है।

एक तीसरा वह कवि होता है, जिसकी वीणा, भूत और वर्तमान के अतिरिक्त भविष्य के भी स्वर छेड़ती है। या यों कहदें कि उसके काव्य में तीनों कालों का दिग्दर्शन हो जाता है। बस, ऐसा कवि ही त्रिकालज्ञ कहलाता है। जिसको ईश्वर पद प्राप्त हुआ है। ऐसे मनीषी कवियों में वाल्मीकि और व्यास आदि के ही नाम लिये जा सकते हैं।

कवि के हृदय पर जो तत्कालीन परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है, वह पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हो पाता, और उसके पूर्ण प्रकटत्व में वह सौंदर्य भी नहीं रहता। यदि कोई कवि अपने काल की घटनाओं का नग्न वर्णन करने लग जाता है तो वह चतुर चितेरा नहीं कहला सकता। वह तो अपने काल का एक कड़खा-कार खड्ग-धर चारण बन जाता है। कवि के काव्य-कुसुम में उसके काल की भीनी-भीनी महक बस जाये, तभी उसमें कला और उपयोगिता उतरती है। जैसे कोई सुगायक एक राष्ट्रीय गीत को भैरवी के सुरों में गा रहा है। वहां यह देखना है कि उस गायक का मनो-वेग उस गीत के भावों पर जाता है अथवा उस राग के सुर-ताल और तान की पूर्त्ति में ही उलझ रहा है। यदि वह गायक सुर-ताल पर गौण दृष्टि रखकर, उस गीत के भावों पर अधिक जोर देता है तो कहना पड़ेगा कि वह एक राष्ट्रीय गायक है। यदि वह इसके विपरीत है तो यही मानना पड़ेगा कि वह एक सुन्दर भैरवी गाने वाला है। इसी प्रकार वही कवि अपने काल का प्रतिनिधि कहा जा सकता है जिसके काव्य में उसका काल ध्वनित होता हो।

जिस कविता के द्वारा पाठक का हृदय प्रफुल्लित होकर समुन्नत हो, उसमें चेतना का विकास हो, सहज सद्गुणों का संचार हो, तो ऐसी कविता को हम माताकी दुलार-भरी प्रबोधना कह सकते हैं।

जिस कविता से पाठक का मनोरंजन तो काफ़ी हो, परन्तु उससे आत्मा के उन्नत-अवनत होनेकी कुछ सम्भावना न हो, तो ऐसी कविता कों हम स्व-कान्ता का प्रेम-पूर्ण संलाप कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जिस कविता को पढ़कर पाठक का अंतःकरण मलिन बने, उसका पतन हो, एवं वह मानवता की तलहटी में जा खड़ा करदे, तो ऐसी कविता को हम वारांगना का कृत्रिम प्रेमालाप कह सकते हैं।

बस, मैंने तो अपनी तुच्छ बुद्धिसे कविता-गत उपयोगिता-उपेत कला की ऐसी ही कुछ रूप रेखा निश्चित कर रक्खी है।

मैं यह नहीं कह सकता कि इन उपर्युक्त गुणोंका 'पुरुषोत्तम' में कुछ समावेश हुआ है या नहीं। क्योंकि प्रथम तो किसी सामान्य व्यक्ति को किसी विषयका पूर्ण ज्ञाता होना ही दुःसंभव है। फिर जिसको जितना ज्ञान है, उसको ज्योंका त्यों शब्दों में उतार लाना और भी कठिन। फिर जो व्यक्ति जितना वर्णन करता है उसको क्रियात्मक कर दिखाना और भी टेढ़ी खीर है। भला ऐसी स्थिति में मुझ ऐसे अल्पज्ञका? फिर साहित्य-ऐसे सूक्ष्म विषय में? हरे हरे! मेरा यह कदापि दावा नहीं है कि 'पुरुषोत्तम' मेरी इस अपूर्ण विज्ञता एवं वर्णना के अनुकूल ही मूर्त्तिमान है। यह तो एक मुद्दत से मचलती हुई अपनी प्रकृति-बालिका को बांका-टेढा खिलौना गढ़ कर दिया है, संभव है इससे अन्य मनः शिशुओंका भी मनोरंजन हो जाय।

रस

साहित्य-वेद के विधाताओं के महावाक्यों में 'वाक्यंरसात्मकं काव्यं' ही 'तत्वमसि' की भाँति गूँज रहा है।

रस क्या है? इसका विवेचन ब्रह्म की भाँति नेति-नेति कह कर ही पूर्ण हुआ है। वास्तव में बात भी ठीक है। 'रसो वै सः' यही वाक्य तो इस 'नेति-नेति' की विवेचना को प्रामाणिक बनाता है।

रस कहां रहता है? इसका यही उत्तर मिलता है कि वह सर्वत्र है। परन्तु, सामान्य रूपसे जड़-चेतन में और विशेष रूप से उसका स्थान हृदय में है। तो फिर वह प्रत्येक रचना में क्यों नहीं उतरता? यह एक प्रश्न है। इसका दार्शनिक दृष्टि से यही उत्तर मिलता है कि अंतःकरण का मुख जिस ओरको विशेषतया प्रवृत्त होता है, उसी ओर रस का उद्गम होने लगता है।

रस का लक्षण क्या है ? इसका उत्तर है 'कुछ नहीं'। आत्मा का जिस प्रकार कुछ लक्षण नहीं, उसी प्रकार रस की ओर भी अँगुली निर्देश नहीं किया जा सकता। अनुभवसे ज्ञेय पदार्थ का कोई चिन्ह नहीं होता।

किसी भी कलाकार में जितनी तन्मयता होगी उतना ही रस उसकी कला में अवतरित होगा। इसी प्रकार जिस पाठक में जितनी तन्मयता होगी उतना ही रस उसको हाथ आयेगा। तन्मयता से उत्पन्न हुए पदार्थ की तन्मयता से ही प्राप्ति होती है। अन्यथा नहीं। कहा जा चुका है कि रस की ओर अँगुली-निर्देश नहीं किया जा सकता। फिर भला ऐसी स्थितिमें किसी एक-दो पद्य के सहारे रस को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करना, एक उपहास मात्र नहीं तो क्या है? वह तो, पाठक की विषय-अभिरुचि, तन्मयता एवं अभिज्ञता पर ही निर्भर हैं। इतना होने पर भी यदि पाठक प्यासा ही उठ खड़ा हो तो साफ निर्णय है कि कवि की कलम सूखी बही है। इस लिये पाठक की परीक्षा कवि करता हैं और कवि की पाठक।

दिग्दर्शन

पुरुषोत्तम के विषय में मेरा कुछ भी बोलना, गुनाह से खाली नहीं होगा। परन्तु अपने कृपालु पाठकों की क्षमा-शीलता को देखते हुए मुझे यह गुनाह करते हुए कुछ भी भय-प्रद नहीं प्रतीत हो रहा है।

पाठक 'पुरुषोत्तम' की राधा को, सूर और 'उपाध्यायजी' की राधा से पृथक ही पायेंगे। पुरुषोत्तम की राधा न तो रो-रोकर मथुरा को संदेशे भेजती है और न कोई लोक-सेवा का ही कार्य करती है। वह कैसी है ? क्या करती है ? इसका थोड़ा-सा उत्तर गोपियों के मुखसे उद्धव के प्रति कहा हुआ सुनिये:—

"उन्मनी महा उन्माद भरी पगली-सी,
हँसती है दुख के साथ, कली कुचली-सी।
जाती न भवन को, उपवन, भवन बनाया,
यह नव तमाल-तरु है इसके मन भाया॥

यह कभी-कभी तो खड़ खड़ करके हँसती,
लसती है इसमें एक अलौकिक मस्ती।
इस भाँति दिवस यह अपने यहाँ बिताती,
गायन में रोती और रुदन में गाती ॥"

श्रीकृष्ण ने उद्धव के द्वारा गोपियो को जो संदेश भेजा है, वह है:—

"रास-विलासों को मत भटको वंशीके स्वर भूलो,
प्राणि मात्र की सेवा की शुचि प्रेंखा में अब झूलो।
दीन-दरिद्रों के देहों को मेरा मंदिर मानो,
उनके आर्त्त उसाँसों को ही वंशी के स्वर जानो॥
उन्हें रिझाओ, उन्हें खिलाओ, उन्हें सौख्य पहुँचाओ।
मुझसे मिलना है तो सीधे इसी राहसे आओ॥"

जब कंस ने अंतिम समय में श्रीकृष्ण के कृत्य की निन्दा की, उसे अधर्म बताया, तब कृष्ण ने यही कहा कि:—

राजा, प्रजा पर करे मन-माने अत्याचार,
छीन लेती जैसे प्रजा दिये हुए अधिकार।
वैसे, पापियों से प्राण छीन लिये जाते हैं,
लोक-दुःख-दायी कभी क्षमा किये जाते हैं?'

—उस उद्वेलित अथाह सागर के तटवर्त्ती द्वारका के दुर्ग पर बैठे हुए भगवान कृष्ण की मानसिक वीचियों में जो कृषकों की दशा सोच कर एक तूफान उठ खड़ा हुआ, उसको बलराम के सामने कहते हैं:—

'जो ढकता है जग के तन को, जो रखता लज्जा सबकी,
जिसके पूत पसीने द्वारा बनती है मज्जा सबकी।
सींच स्वशोणित शुद्ध, धरा में जो निपजाता है मोती,
जिसकी शुद्ध शिराएँ हा! हा! रिक्त विश्व के हित होतीं॥
आज कृषक वह पिसा हुआ है, इन प्रमत्त भूपों-द्वारा,
उसके घरकी गायों का रे! दूध बना मदिरा सारा।
उसकी हँडिया का मक्खन, अब जँचा काँच की ताकों में।'
वह फाकों में दिवस बिताता ये खाते घी पाकों में॥

—कुरुक्षेत्रके विधाता श्रीकृष्ण, दूर से हस्तिनापुरको देख कर:—

'आह! अनय, अभिमान, अधर्म यहां पर सोये!
धर्म, सत्य, शुचिभाव पड़ा कुटियामें रोये!
पाप सुरा में मत्त, पुण्य पानी को भटके!
'छलता' गटके माल, सरलता सिर को पटके!

*   *   *

नहीं, नहीं, यह नहीं, कदापि नहीं हो सकता,
कोई कितने दिवस बीज विषके बो सकता॥
मुकुट-धरों के मुकुट ठोकरों से उड़वादूं,
दीन-रक्त से भरी बोतलें ये फुड़वादूं।
इन महलों में ला कुटिया का जगत बसादूं,
हँसनेवाले रुला, विलखता जगत हँसादूं॥'

पुरुषोत्तम की सत्यभामा, रुक्मिणी, द्रौपदी, ह्लादिनी आदि स्त्री पात्रों के बोल-बचन भी सुन लीजिये:—

सत्यभामा:—

'अबलाओं की पीड़ा को क्या पुरुष हृदय पहचाने?
राज-नीति, धन-संपतिके कीचड़ में रहते साने।
योषाओं की लज्जा से फिर तुम तो निरे अयाने,
चीर हरे व्रज-बालाओं के, कसे कड़े फिर ताने॥'

रुक्मिणी:—

'क्रूर भी नहीं हूं और कायर भी नहीं हूं मैं,
वीर-कुल-बाला वीरता के भावों-भरी हूं,
सिंह-अनुगामिनी हूं, देखना दिखाऊँ हाथ,
समर में हाथियों को सिंहनी क्या खरी हूं।
सारथी बनूंगी रथ हाँकूंगी प्रवीणता से,
आप यदि केवट, तो मैं भी एक तरी हूं,
बाधा नहीं डालूंगी तुम्हारे महा कर्मों में मैं,
अनुगामिनी हूँ, एक सच्ची अनुचरी हूं॥'

सोलह सहस्र राज कुमारियों के भावः—

'हमें सैनिका कर लेना तुम, खाने को मत देना,
दुष्ट-विदलने का तुम हमसे, काम निरंतर लेना।
अपनी रोटी आप कमा हम लेंगी अपने बलसे,
जनता की कर-कर के सेवा, दुला पवन अंचलसे॥
तेरे प्रासादों के नीचे सदा बुहारी देंगी,
हैं यद्यपि हम राज कुमारी, जन-सेवा-व्रत लेंगी।
रूक्ष अशन कर, सरस कार्य हम जग का सतत करेंगी,
इस जीवन की बूंद-बूंद हम संसृति-हित बितरेंगी॥'

द्रौपदीः—

'पर, मुझ को न भरोसा मेरा, कब रण कूद पड़ूंगी,
व्यंग वचन सुन घोरानी के, जीती ही विचरूंगी?
हे मुकुन्द! मैं ज्वलित प्रतिज्ञा वर्षों से सेती हूं,
चने भूँजने को मैं पल-पल, बनी तप्त रेती हूँ॥'

ह्लादिनीः—

'साथी दुःखित छोड़ स्वयं जो भोगों में लिपते हैं,
लाखों गो-वध पाप उन्हीं हत्यारों पर चिपते हैं।
मित्रों की तो बात दूर, यदि पार्श्वी भी हो दुखमें,
खाक पड़े उन भोगों में, उन महलोंमें, उस सुखमें॥'

कोई स्वान्तः सुखाय लिखने वाला कवि भी तभी प्रसन्न होता है जब कि उसकी रचना परान्तः सुख दायिनी बनती है। वास्तव में अन्य को सुख पहुंचा कर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है। इस लिये, यदि इस पुरुषोत्तम के द्वारा किन्हीं महानुभावों को कुछ भी आनन्द प्राप्त हुआ तो लेखक अवश्य ही उस सुखका भागी होगा। कवि को सच्चा पुरस्कार उसके परोक्षस्थ पाठक ही दिया करते हैं, कोई राजा, महाराजा नहीं। अन्तमें मेरी भगवान पुरुषोत्तम से यही प्रार्थना है कि वे इस रचना से अपने पाठकों को आनन्द पहुंचा कर लेखक को कृतकृत्य करें।

बम्बई
गुरुपूर्णिमा
१९९६

तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'

धन्यवाद

मेरे प्रिय मित्र पं० श्री जगन्नाथजी अहिवासी (प्रोफेसर आर्ट कालेज, बम्बई) ने जो विरहिणी राधा का चित्र निर्माण किया है. उसके लिये अकेला मैं ही क्यों, प्रत्युत् कोई भी चित्र-कला-पारखी एवं भावुक भक्त उन्हें दाद के साथ धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। साथ ही श्री अहिवासीजी के शिष्य श्री रामरत्नदासजी ने जो ' रुक्मिणी-पत्र लेखन ' चित्र बनाया है, उसके लिये मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

पुरुषोत्तम की छपाई के समय मेरे प्रिय शिष्य श्री खेतसीदास तुलस्यान ने मेरी उपस्थिति और अनुपस्थिति में जो प्रूफ-पाठ आदि कार्यों में, जिस उत्साह के साथ अथक सहायता दी है, उसके लिये मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

इसके अतिरिक्त जिन-जिन महानुभावों से इस विषय में जो कुछ भी मुझे सहायता प्राप्त हुई है, मैं उनका आभारी हूं और हृदय से धन्यवाद देता हूं।

लेखक

अनुक्रमणिका

अश्व-परिचर्या



ब्रह्मचर्य के बाणों से तन सक्षत, अक्षत मन, अक्लांत ।
समर-श्रान्त निज अश्वों की हैं परिचर्या में निरत नितांत ॥

पुरुषोत्तम

(मांगलिका)

ब्रह्मचर्य के बाणों से तन सक्षत, अक्षत मन, अक्लान्त,
समर-श्रान्त निज अश्वों की जो परिचर्या में निरत नितांत ।
सस्मित कहते—" पार्थ, दिखाये तुमने भले समर में हाथ, "
वह पुरुषोत्तम-हसिति रहे इस 'पुरुषोत्तम' के पद-पद साथ ॥

(आत्मिका)

वर्षों से मति मचल रही थी गीत हृदय का गाने को,
मैंने यत्न किये बहुतेरे इसकी टेक छुड़ाने को ।
मैंने कहा अरी ओ पगली ! तू है दीन-मलीन घनी,
विषय-वासना-वेष्टित प्रतिपल तर्क-वितर्क-कुपंक-सनी ॥

नभ-स्पर्शी उसके चरित्र हैं, मुनि-मन अगम, सुगम तुझको ?
इतना साहस ? अयि पिपीलिके ! नहीं सूझता श्रम तुझको ?
जिस अद्रीश-शिखर पर जाते पंख काँपते पक्षी के,
तू पाँखों को पना रही है ! पक्ष कहाँ तुझ मक्षी के ?

जहाँ व्यास-से विहग-राज ही भर सकते हैं उच्च उड़ान,
जहाँ सूर-से चातक नभ में छोड़ गये निज मीठी तान ।
अरी बावली ! क्या गायेगी, क्या खींचेगी चित्र महान ?
नन्ददास-से चित्रकार के जहाँ पड़े हैं अमिट निशान ॥

मति बोली तब आंसू भर कर—"परम रंकिनी जान मुझे—
निज पद-पूजा से वंचित क्या रक्खेंगे भगवान मुझे?
इस दासी के पास यदपि वे धनियों के-से थाल नहीं,
शब्द-सुमन-मय विविध वर्णिका वह सुन्दर शुचि माल नहीं ॥

धूप, दीप, कस्तूरी, कुंकुम, दधि, अक्षत, कर्पूर नहीं,
मेवा, मिश्री, मधुर मखाने मोदक मोतीचूर नहीं ।
पूजा का सामान न कुछ भी आई चरणों चढ़ने को,
देखूं, कौन मुझे रोकेगा, आत्म-वेदना पढ़ने को ?

जहाँ किया करते हैं कोविद शुद्ध गिरा से स्तोत्र बखान,
वहाँ नहीं क्या बालक अस्फुट बाणी से करते गुण-गान ?
'जय जगदीश हरे' गाते हैं जहाँ सुगायक भर आलाप,
'दें दगदीथ हले' भी कहनेवाले वहीं पखालें पाप ॥'

जहाँ जाह्नवी के शुभ तट पर सम्राज्ञी करती सुस्नान,
एक कक्ष में वहाँ भिल्लनी भी चुभकी ले करती ध्यान ।
'होता' जहाँ हवन-वेदी पर करते हवन विधान-समेत,
हरि के आगे रूखी रोटी हरि-जन रखता भाव-उपेत ॥

गेह-नारियाँ बाँकी-तिरछी रेखाओं के देव बना,
पूजा करतीं पद-पद्मों को, लेतीं रूठे देव मना ।
मैं भी तो बस, उनमें ही हूं, हैं समदर्शी वे भगवान्,
रीझेंगे इस अशुचि क्रिया से, दीना, हीना, अबला जान ॥

*   *   *

प्रथम अंग



पुरी-प्रवेश



आज स्वर्ण-निधि उठा लुटाता कांचनकी निज मालाएँ,
हँस-हँस दोनों हाथ-लुटती, मधु-नगरीकी शालाएँ ।
गगन-विचुम्बित प्रासादोंके कलश शत गुणित साभ हुए,
सुन्दर धवल सकल पुर-मंदिर, सुर-गृह-सम अमिताभ हुए ॥

बजे आरती-सूचक शंख, मृदंग मधुर स्वर वाद्य महान,
देव-मंदिरोंमें 'जय-जय' का घोष हो उठा, ले मृदु तान ।
युवति-वृन्दका कर कंकण-रव, दधि-मंथनके साथ मिला,
लगा मोहने जन-गण-मनको, श्रवण-सुधा-सी रहा पिला ॥

गो-दोहन, वत्सोंका रम्भन घर-घर होने लगा विशेष,
खुलीं सुरभियां धीरे-धीरे वनके संचारण-उद्देश ।
वन, उपवन, उद्यानोंमें रवि-प्रभा प्रसरिता हुई महा,
विहग-वृन्दका कल रव चारों ओर हुआ श्रुति-सुखद अहा !

सजल सरोंने अपने-अपने सरस विलोचन खोल दिये,
साथ किसीने मंद गमन मारुतके बंधन खोल दिये ।
यमुनाकी कल्लोलित लहरें लिये अङ्कमें प्रच्छाया—
तीर-द्रुमोंकी—रवि-आभासे आभासित नीलम काया ॥

चली एक पर एक जारहीं 'कल-कल, कल-कल' करतीं नाद,
देती ताल कालकी गतिपर, कहती-सी कुछ शुभ संवाद।
करने लगा समुन्नति धीरे-धीरे जन-पद-यातायात,
इधर, उधर वा जिधर-किधर भी दृष्टि डालिये, जन-संघात ॥

जन-संकुल मधुपुरी-विपणियाँ सजीं मोहतीं नाना भाँति।
विविध रत्नवर विरचित भूपण विलसित मोहक सुन्दरपाँति,
काञ्च-मयी मञ्जूषाओंमें काञ्चनके लसते भूषण,
चकाचौंध-सी मचा रहे हैं, उनमें वन्दी वन पूषण ॥

विविध विमोहक वसन-विभूपित हाटें अगणित शोभागार,
जिनमें संस्थित हैं कुवेर-से सुगठित सज्जित धनी उदार।
शनैः शनैः उत्तुंग समूर्जित होता कल्लोलित बाज़ार,
राव-रंकता लीन हुई है अपना-अपना ले व्यापार ॥

अश्व हींसते मदुराओंमें बँधे पिछाड़ी हुए कनौत,
खूँद कर रहे परम पुष्ट तनु, शुभ सुन्दर हैं जिनके गोत।
गज-शालामें महाकाय गज, कज्जलके-से कूट महान,
शुंड-पुच्छ फटकार रहे, फुंकार दे रहे शेष-समान ॥

सैनिक-दलमें कोई असिको साध रहा है बारम्बार,
कोई कृत्रिम वार कर रहा, कोई उसको रहा निवार।
कोई माँज रहा है भाला, कोई करता शर-संधान,
कोई खींच रहा प्रत्यञ्चा, कोई करता रीति-विधान ॥

शौर्य अखाड़ोंमें लड़ता है, परमचंड, दुर्दंड महान,
दंड कर रहे कितने दुर्जय, निर्भय हो उद्दंड महान।
मुष्टिक वा चाणूर-सरीखे महाकाय गजराज-समान,
काल-संग भी लड़नेको जो प्रस्तुत हैं, प्रतिपल, प्रतिस्थान॥

कहीं कुवलया-ऐसे उद्धत मद-उन्मत्त मतंग महान,
पिला-पिला मद किये जा रहे अनियंत्रित नित काल-समान,।
धनुष-यज्ञके आयोजनमें है सुलग्न सब राज-समाज,
यज्ञ-भवनमें धीरे-धीरे सजने लगे कालके साज॥

प्रजा-जनोंके मुदित-सुमनमें विष-मय कीट लगा है हाय!
श्रीवसुदेव-सुतोंके दर्शन तथा जान उनको असहाय।
सबकी आँखें लगी हुई हैं गोकुलके ही पथकी ओर,
"कब आये रथ, कब हम देखें नन्द-भवनमें पले किशोर"॥

चढ़-चढ़ उच्च अटाओंपर नव सुन्दरता तकती है राह,
पल-पल जिसको कल्प बिताती, आँखोंमें है चाह अथाह।
लो, वह आया रथ गोकुलसे मथुराके अति निकट अहा!
"काका! रथको यहीं रोकलें," सुधारसन ने उन्हें कहा॥

रुका यान, हरि बोले—"काका, चलें आप, हम हैं आते,
पुरी निरखते, सब जन इसको अनुपम सुन्दर बतलाते।"
अश्रुपूर्ण हो गये विलोचन, विकल हुए अक्रूर महा,
'भला मुझे फिर कहाँ मिलोगे?' रुद्ध कंठसे उन्हें कहा॥

'नहीं चाहते ये दृग लोभी तुम्हें त्यागना पल भर भी,
क्या देखेंगे कमलेक्षण ! ये नेत्र तुम्हें अपने घर भी ?
कब मसान वह पावन होगा ? शून्य धूलि कब होगी धन्य ?
भूल न जाना प्राण ! देखना, मेरी गति अब रही न अन्य ॥'

समझ गये श्रीकृष्ण हृदयके भाव, सान्त्वना-युक्त रसाल—
बोले वचन सुधा-सिंचित-से, वहा उत्ससे सीकर-जाल ।
'काका, चिंतित किंचित् भी रहिये न, अभी हम आते हैं,
हम हैं यदपि निरे बालक, पर, देखो आज दिखाते हैं—

यदु-कुलके वक्षःस्थल-वाला पर्वत करके चकनाचूर,
कण्टक कुचलेंगे चरणोंसे, चिर बाधक दुख होंगे दूर ।
हे सम्मान्य ! त्यागिये चिन्ता, अभय कीजिये पुर प्रस्थान,
सीधे जाकर अहंकार से कहिये, आ पहुँचे महमान ॥'

उतरे रथसे युगल बंधुवर, काकाजीको किया प्रणाम,
चला यान, वे पीछे-पीछे, अश्व चले होकर उद्दाम ।
यान गया तत्काल मधुपुरी, मंथर गतिसे युगल मराल,
मिले मार्गमें इनको जाते व्रज-वासी साथी गोपाल ॥

गये द्वार पर मथुरा के, बस दृश्य देखकर चकित हुए,
नयन-रंजनी छटा निराली नयन निरख कर थकित हुए ।
स्फटिक शिलाओंसे निर्मित नव ऊँचा द्वार विशाल घना,
शुभ्र, रजत-सा सुन्दर सब विधि, सुगठित, शिल्पित शान-तना ॥

कनक-कपाट गठित अति सुन्दर, मानो जटित रदोंमें चोंप,
पुरी-सुन्दरी हँस-हँस छलती, आया लख, पति-काल सकोप।
मूल्यवान हीरोंकी मेखें, लालोंकी वर रेख खिंची,
जगमग-जगमग ज्योति जग रही, आँखें जाती देख मिची॥

पड़ी मेखला-सी परिखा थी, पुरी-युवतिके चारों ओर,
श्रेणी-बद्ध द्रुमोंपर सुन्दर नूपुर, विहगवरोंका शोर।
जन्म-भूमिको कृष्णचन्द्रने सादर शिरसा किया प्रणाम,
सजल हो गये निर्मल लोचन, भरा प्रेमसे शुभ हृद्धाम॥

राज-मार्गसे चले चपल दृग, मन्द-मन्द भरते मुस्कान,
मानो मान-सरोवरसे उड़ आये बाल मराल अजान।
वे विशाल शुभ सदन सुशोभित, इन्द्र-धाम-से दिव्य महान,
मरकत, माणिक, मौक्तिक मोहक, नीलम-निर्मित नाना स्थान॥

घर-घर वन्दनवार झूलतीं—आम्र-पत्रकी मालाएँ,
मानो शत-शत रसनाओंसे लालायित हैं शालाएँ।
नाच रहीं स्वागतको रम्भा हरे-हरे ले छदन विशाल,
यथा अतिथिका श्रम हरनेको व्यजन डुलाते हैं गृह-पाल॥

चौक पूर रक्खे है सबने, उनपर चौकी बिछी विशाल,
धूप, दीप, दधि, अक्षत, रोचन, सजे सुनहरे सुन्दर थाल।
हाट-बाट, चौहाट, चौंतरे, अटा-झरोखे स्वच्छ गवाक्ष,
आज हँसे-से जान पड़ रहे, हुए दर्शनोंको अमिताक्ष॥

सुना, आगये युगल बाल वर, दौड़ीं छोड़-छोड़ गृह-काम,
बहू-बेटियां लालायित हो, लखनेको नँद-लाल ललाम ।
जाली-जँगले और झरोखे, छतें लचीं शोभाके भार,
मन्मथके मद-मंथक पर यह मन्मथ-सेना चढ़ी अपार ॥

अगणित उदित सुधाकर,—मोहित नभने भेजी सरसिज माल,
अपलक लाखों-लाख विलोचन भवनोंने पाए सुविशाल !
बड़ी-बूढ़ियां गेह-द्वारपर खड़ी हुईं आ ममता-युक्त,
थकित दृगोंमें स्नेह-सुधा भर, प्रकटित हुआ प्रेम चिर गुप्त ।

राज-मार्गसे चले जा रहे बालक युगल नवल अभिराम,
दीर्घ दृगोंसे दर्शन करते द्वार-द्वारके दृश्य ललाम ।
झूल रहे कानोंमें कुंडल कांचनके अति आभावान,
मणि-मुक्ता पोहे थे जिनमें माताने कर प्रेम-विधान ॥

मादक, मोहक नेत्र नुकीले, प्रेम-पूर्ण वे दीर्घाकार,
मंद-मंद वह हसन छुड़ाती किसका नहीं मनो-व्यापार ?
कुछ-कुछ कभी विलोक युवतियां, अन्य भावसे भर मुस्कान,
चले जा रहे बालाओंपर बला डालते बने अयान ॥

अपलक दृग-प्यालोंसे बाला-जनने किया अजाने पान,
दिव्य-वारुणी रोम-रोममें पसरी, विसर गया सब ज्ञान ।
माताओंने दी आशीषें, दो आँसू भी साथ दिये,
भू स्पर्शित कर दी थुथकारी, सबके प्रमुदित हुए हिये ॥

छज्जोंपर से ठगी युवतियां अर्प रहीं सुमनोंके हार,
हार चुकी मन्मथकी सेना, दिये जयीको मन-उपहार, ।
ठौर-ठौरपर विप्र-वृन्दने धूप, दीप, दधि, अक्षत-साथ,
पूजन विधि-युत किया प्रेमसे, हुए हृदयमें आज सनाथ ॥

चली नारियोंमें फिर चर्चा—' री सखि, देखो रूप महा,
जो इनसे ' माँ ' कहलाई, क्या जाए उसका भाग्य कहा ?
उनकी भाग्य-विभूति विलोको, जो इनमें खेली-खाईं,
ये जिनके मनभाये अथवा जो इनके हैं मनभायीं ॥

उन आँखोंपर आँख वारिये जिनमें हैं ये आँख बसीं,
धन्य-धन्य वे व्रज-बालाएँ, जो इनमें मिल खिलीं-हँसी । ''
चले जारहे ग्वाल-वृन्द-सँग, मुकुलित मृदुतर युगल किशोर,
काछे नटवर वेष मनोहर, साधुजनोंके चितके चोर ॥

राज-कुँवर-से सजे भले ये गोप-सैन्यके सेनानी,
जय-श्री कन्याओंके वर-से दोनों बंधु महा मानी ।
गजरे हार गुथे रेशमके दर्जीवरने पहनाए,
श्वेत-श्याम युग कलभ-सरीखे चलते हुए नजर आये ॥

बल-विवेकसे, धर्म-कर्म-से, धैर्य-शौर्य-से सजे विशेष,
गुण-सुरूप-से चले जा रहे—आज मिले राकेश-दिनेश ।
लहर-लहर लहराती मारुत-प्रेरित अमित पताकाएँ,
पुरी-कामिनी पुलकित मानो फलित देख निज आशाएँ ॥

एक भक्तवर माली उनपर मुग्ध हो गया लखकर रूप,
पूजनकर पहनाई माला, मन-माणिक-मय परम अनूप ।
श्रीहरि आँखोंमें हँस बोले—"कहो चाहते क्या माली ?"
बोला—"इस रस-हीन विटपकी सौरभ-युत कुसुमित डाली—

"झुकी रहे इस ओर सर्वदा, चुना करो तुम वनमाली !
पुरस्कार मैं यही चाहता—हरित रहे बस यह डाली । "
किसलय-सी मुसकान छोड़कर, शरत्-वृष्टि-सी कर बौछार,
तुरत बढ़ चले आगेको फिर, अग्रजके सँग नन्द-कुमार ॥

चले चतुर चित-चोर, चारुचर, चललोचन, गोलोचन-भाल,
किंचित कुंचित, मेचक, मेदुर, मृदुल, मनोहर बिथुरे बाल ।
मिली मार्गमें एक सुन्दरी ऊन षोडशी चपल महान,
कंस भूपकी श्लाघ्य किंकरी, चली जारही सह अभिमान ॥

उबटन-थाल सुगंधित करमें, भूपतिके स्नानार्थ चली,
हर्षित-सी, गर्वित-सी, अर्द्ध खिली-सी कोमल कमल-कली ।
कहा कृष्णने—"अयि सुमध्यमे ! दे हमको यह अनुलेपन, "
विधु विलोक कर 'ना' न कढ़ी मुख, दे बैठी निज मानस-धन ॥

बोली—"मांग, रहे अनुलेपन ? होकर खुद ही अनुलेपन !
लिये फिर रहे आँखों वंशी, अरे ! शफरियोंके जीवन ! "
अनुलेपन ले, तनुसे लेपन, हँस-हँस किया हृदय हरते,
लोचन-तुरग अचल दासीके, चरण न अन्य तरफ भरते ॥

हँस बोले—" हँसमुखी, आज है तूने हमको जीत लिया,
उबटनके दामोंमें—कितना सस्ता सौदा क्रीत किया!
बता कौन तू? कहाँ जा रही? और चाहती क्या हमसे?"
उसने फिर निज राम-कहानी बतलाई पुरुषोत्तमसे ॥

" शोभन! दासी, कंस-अनुचरी, इसे त्रिवक्रा कहते हैं,
हूँ मैं सेवा-निपुणा, इससे नृप नित रीझे रहते हैं!
अनुलेपन यह वहीं लिये मैं परिचर्यार्थ चली हूँ देव!
जाने क्यों इस छलियासे मैं अन्तर्बाह्य छली हूँ देव"?

हरिने उस पर एक दृष्टि कुछ हँसकर निजपनकी डाली,
निज भक्तोंकी माला बीच पिरो डाली—बस अपनाली।
बोली—" मोहन! दासीके भी भवन चरण धर, कर दो पूत,
पद-सेवा कुछ करके दासी, गति पाजाए आज अकूत ॥

मंजुकेशि! है दासी शूद्रा, और आप हैं उच्च महान,
अधिक विनय इस लिये न करती, रोक रहा है धर्म-विधान।"
प्रेम-प्रपूरित हृदय देखकर कहा कृष्णने 'बस, बस, बस,'
कहो न—हम खुद ही आयेंगे, हमको जानो प्रेम-विवश ॥

तीन लोककी 'श्री'-प्राप्ता-सी, आनन्दित हो चली विशेष,
आगत और अनागत-गतके विगत हुए-से जाने क्लेश ॥

   

धनु मख-शालाको वे पूछते हुए चले,
नवनीतके-से डले, साँचेके-से वे ढले ।
छोड़के अभी हैं आये मानो दिव्य धाम ये,
बाल अभिराम गौर-श्याम पूर्ण काम ये ॥

लोकोत्तर कर्म करनेको जगतीमें आज,
कोपको छिपाए चला महाकाल सजे साज ।
पावक-प्रभंजन ये दोनों एक साथ आज,
किसको दिखानेचले हाथ, मिला हाथ आज ?

हर की ये भृकुटी दो किसपै चढ़ी हैं आज ?
कालकी ये तीक्ष्ण नेत्रें किसपै कढ़ी हैं आज ?
अंजलि अगस्त्यकी ये किस अकूपारको—
सोखने चली है, किस अतल अपारको ?

जाते हुए देख उन्हें होता यही चित्त भास,
विश्व-अंधकार को है लीलने चला प्रकाश ।
गये वहाँ, जहाँ धनु-क्रतु-स्वांग रचा था,
मिश्रित निनाद बहु भाँति जहाँ मचा था ॥

वाद्य बजते थे मृदु-मंद स्वरमें वहाँ,
सह्य सहनाई सुमधुर कूजती जहाँ ।
मृदुल गभीरतासे मृदंग निनादता,
मानो बड़ी दूरी पर घन-दल गाजता ॥

खञ्जरी खनकती थी ‘ खन्न-खन्न ’ नादसे,
‘ किट-किट ’ करताल साथ देती वादसे ।
‘ झनन-झनन-झन ’ तार झनकारते,
वीणाके, सितारके सुरस विसतारते ॥

दिव्य सुविशाला यज्ञ-शाला ज्योतिर्मयी थी,
इन्द्र-रंग-शाला-सी धरा पै सोही नयी थी ।
रत्न-मय स्तंभ, माला मोतियोंकी चारों ओर
झूलतीं थीं—कृत्रिम बैठाये जहाँ शुक-मोर ॥

एक अति दिव्य मञ्च कांचनीय था विशाल,
यज्ञ-शाला-मध्य टिका, आभा उठती उताल ।
सुन्दर धनुष एक उसपै विराजमान,
शिंजिनी समेत लसा, तुला-के ही उपमान ॥

मानो बल-धारियोंके बल तोलनेको आज—
कंसने टिकाया काँटा—मृत्यु बोलनेको आज ।
ठौर-ठौर सैनिकोंकी सन्नद्ध है रक्षणा,
देखनेसे भासती है कालकी-सी लक्षणा ॥

घूमते हैं द्वार पर चंड भुजदंड-वर,
उद्दंड घमंड भरे, प्रहरी सुशस्त्र-कर ।
जाकर ये खड़े हुए हाथियोंके वनमें—
सिंहके-से छौने, लगे घुसने भवनमें ॥

रोका इन्हें रक्षकोंने, भेक जैसे सर्प को—
देख भाग जाते, छोड़ वाणी मात्र दर्प को।
अग्नि पै चलाए हाथ कौन जलनेके लिये ?
मृत्यु पै लुभाए कौन प्राण छलनेके लिये ?

धन्वाके निकट गये वैनतेयके समान—
सर्प-रीढ तोड़नेको, कृष्ण बलके निधान।
कंसके घमंड रूप प्रचंड कोदंड को,
हाथमें ले तोला उस कल्पित अखंड को ॥

जैसे महा मदकल मातंग विलास से—
तोड़ डालता है इक्षु–दंड–परिहाससे—
तोड़ डाला कार्मुकको हँसके मुकुंदने,
धनुष को टूटा जान गोप लगे हँसने ॥

हँसी वसुधा भी और साथ ही गगन भी,
वनोंमें समाधियोंके साथ मुनिजन भी।
कोदंडका भंग-रव गूँजा एक पलमें,
स्वर्गमें, धरामें, धराधरोंमें, अतलमें।

कंस के भी कानों पड़ी कालकी-सी गर्जना,
कथना करे क्या कवि उठी जो-जो कल्पना !
यहां "मारो-मारो धरो" वीरोंने पुकार की,
साहस न पड़ता है, भावना प्रहार की।

दोनों बंधुओंने लिये धनु खंड हाथमें,
वीरोंको भगाया बड़े साहसके साथमें ॥

धुनकी की चोट खाके उड़ती है जैसे तूल,
झंझाके झकोरों साथ उड़ती है जैसे धूल ।
वीर उड़े त्योंही गये कंस दरबारमें
गर्व था निमग्न बैठा, भावीके विचारमें ॥

देखता है सामने क्या ? रक्तमें रँगे खड़े,
वीरअभिमानी, रँगवाए देह—कपड़े ।
कर्ण है किसीका टूटा, कोई भग्न शीश है,
कोई वेदना का मारा दाँत रहा पीस है ॥

कोई खंड बाहु, कोई अक्षत अधीर है,
नेत्र हैं सनीर, मुखों दुःख की समीर है ।
लाल स्याहीमें लिखित बाँची भावी सूचना,
लेके आये जो सँदेश, उसे पड़ा सुनना ॥

"हाय! हाय!" की पुकार, और रक्त-रञ्जना,
देखी दुर्दशा जो आँखों, बोध भूला अपना ।
अग्निके समान हुए लोचन विशाल लाल,
होठ काटता ही उठा, असि कोषसे निकाल ॥

पूछा—"क्या हुआ रे यह ?" बोले—"मारे गये नाथ!"
बालकोंके रूपमें हैं कालने बढ़ाए हाथ ।

यज्ञके धनुषके दो खंड कर डाले हैं,
ब्रज-वासी बालकोंने घने घावों घाले हैं ॥

करता विध्वंस जैसे गज कंज-वनको,
ठीक वैसे कर डाला यज्ञके भवनको !
क्या कहूं हे नाथ ! अभी भय नहीं जाता है,
ध्यान मात्र बालकोंका, उरको कँपाता है ॥

दुर्द्धर दुरन्त हैं वे दुर्जय महान हैं,
साहसके, विक्रमके, तेजके निधान हैं । ”
वैरियोंकी श्लाघा वह दीपकी शलाका बनी,
कोप-कोष बारुदमें शिखा उठी सौगुनी ॥

बोला अन्य सैनिकोंसे—“जाओ, उन्हें दलदो,
निज बाहु-शिला-बीच बीजोंको कुचलदो ।
जाने नहीं पाएँ आज जीवित वे स्थानसे,
भूँज डालो उन्हें जिस-किस भी विधानसे ॥

सैंकड़ों सैनिक शूर पाकर आदेशको,
दौड़े अति क्रुद्ध हुए मारने ब्रजेशको ।
गये वहाँ, जहाँ खड़े कृष्ण, गृह-पालोंमें,
वैनतेयके समान वध किये व्यालोंमें ॥

निर्भय नितान्त ग्वाल-मण्डलीके साथमें,
समुद विहरते हैं, जय लिये हाथमें ।

"मारो-मारो, धरो-धरो, जाने पाएँ ये नहीं,"
तुमुल निनाद श्रुति-गोचर हुआ वहीं ।

आये वध-हेतु वीर, पास दामोदरके,
आततायी निर्दय खिलाड़ी वे समरके
दोनों बंधुओंने झट उन्हें ललकार दी,
धनु-खंड हाथोंमें ले, वीरता विस्तारदी ॥

मचा घोर घमसान ये किसान-से बने,
काटनेको पका खेत, हाथ लगे चलने ।
खा-खा धनु-खंड-मार, खा पछाड़ गिरते,
पविके प्रहारसे ज्यों हैं पहाड़ गिरते ॥

हुए हत भूपतित आहत हो कितने,
पड़े आहें भरते है, आहत हैं जितने ।
रक्त के फुँहारे छूटते हैं पुष्ट गातोंसे,
हाथोंसे दबाते आँतें, वेदनाको दाँतोंसे ॥

गोप-गण दृश्य देख चकित-से हो गये,
जो थे भाव सख्यके वे शंकित-से हो गये ।
हँसते मुकुंद कढ़े यज्ञके भवन-से
लाल अधरोंसे दिव्य दीपते दशन-से

चर्चा चारों ओर चली युगल किशोरों की,
योषिताएँ वीरता पै ठगीं चित्त चोरों की,

चले गोप वृन्द-संग घूमने नगरमें,
हँसते-हँसाते करथामे बंधु-कर में ॥

वैरियोंके शोणितसे वस्त्र हुए लाल हैं,
मानो गेरु-कीचमें पलोटे दो मराल हैं।
देखा योषाओंने उन्हें, आँखें शीत होगईं,
रूप पै बिकीं थीं, वीरता पै-क्रीत होगईं ॥

नगर-निवासियों पै दृष्टि-सुधा डालते,
ममता जनाते, जन्म-भूमि-प्रेम पालते,
जाते मन्द-मन्द गति, मदन-वसंत-ये,
'कीरति' के, 'श्री' के शुभ वाहक सुकन्त ये ॥

आज नगरी के उर मोद ठाठ मारता,
जन-जन इन पै है तन-मन वारता।
साँझ हुई, रश्मि-माला रविकी प्रवाल-सी—
पड़ी जगतीके कंठ, मुख पै गुलाल-सी ॥

दोनों बन्धुओंके मुख तेजोमय भासते,
रवि-लालिमा को छूके सौगुने प्रकाशते।
रिपु-तृण-तोमको ये जंगम अँगार-से,
नव युवतियोंके ये मनके सिंगार-से ॥

गये निज आवासोंमें, शकटोंके ठाठमें,
नंद-गोप आदिक थे बैठे जहां बाटमें।

जाकर प्रणाम किया भक्तिसे स्वतातको,
धारे नव्य वसन, विशुद्ध किया गात को ॥
नंदने सुनी जो फिर रण-रंगकी कथा,
साथ-साथ हर्षके भी, उर उपजी व्यथा ॥

दोनों बालोंको बिलोका स्नेह-मयी दृष्टिसे,
दृग-जल वार-बार सींचा, स्नेह-वृष्टिसे ।
प्राणोंके आधारोंको परोसा थाल खीरका,
यमुनाका दृश्य वर, नवनील नीरका ॥

सभी गोप-ग्वालोंको खिलाके नंदने दिया,
शुल्क निज उदरको—चिन्तातुर है हिया ।
सबके मनों पै काली चादर है छागई,
मेदिनी सकल श्याम सिंधुमें समा गई ॥

नंदकी उड़ी है नींद, उलझे विचारमें,
" नाव मेरी अटकी है आज मँझधारमें ।
हायरे! पिशाच कल ज्ञात नहीं क्या करे? "
दुर्मति, मदान्ध-कृत्य सोच मनमें डरे ॥

दोनों बालकों पै कर फेर रहे स्नेहसे,
प्राण उनमें टिके हैं, छूट देह-गेहसे ।
या तो भाव चलते थे गोपराज नंदके,
नीर यमुनाका, या चरण वायु मंदके ।

सारी सृष्टि स्तब्धताके सागरमें लीन थी,
नंदजीकी वृत्तियाँ उसीमें हुई मौन थीं ॥

कंसने सुना वृत्तान्त रक्तपातका जहाँ,
कोपना कृतांतकी-सी, क्रान्त हो उठा महा।
झंझाके झकोरोंसे ज्यों अर्णव उछलता,
लम्बी-लम्बी लहरोंसे कूलोंको है दलता ॥

जैसे मही-कम्प से है मही—धर डोलता,
ज्वालामुखी में ज्यों ज्वाला—जाल है कलोलता।
घूमता है त्योंही कंस, छत पै प्रासाद की,
एकाकी, निशामें, झंझा चित्तमें विषाद की ॥

ऐंठता है मूँछें कभी, होठों को चबाता है,
दाबे दबता न क्रोध, बहुत दबाता है,
बोधता है क्रोध को-' तू टिक रात-रात रे!
कर दूँगा शान्त तुझे उगते प्रभात रे!!

जैसे काक चटका के शावकों को मारता,
क्रुद्ध सिंह कलभों के उदर विदारता।
वैसे दोनों शत्रुओं के शीश दिखाऊँगा मैं,
लोटते, धरा पै रक्त-धारा बहादूँगा मैं ॥

रक्तमयी देखना कलिन्दजा बनाऊँगा,
वृष्णि-वंशको उसीमें क्रन्दते नुहाऊँगा।

नंद को चखाऊँ काल-पालनेके प्यार मैं,
नगरी में मचवाऊँ कल ‘ हाहाकार ’ मैं ॥

दुष्ट नागरिकों, इन छुपे हुए व्यालों के,
तोडूंगा विषैले दन्त, मेरे काल-पालोंके।
वसुदेव—देवकी के हाथों उठवाऊँगा—
शव उन्हीं के सुतों के, उन्हीं से फुँकाऊँगा ॥ ”

नाना काली कामनाएँ घोर काली रातमें,
एकाकी है पोष रहा कंस सधा घातमें।
घोर अर्द्ध रात्रिमें है सृष्टि स्तब्धता मयी,
प्रेतिनी-सी कंस-कामनाएँ घूमती कई ॥

निशिकी निस्तब्धताका वस्त्र फाड़ता हुआ,
घुग्घू-शब्द हुआ, कर्ण-ढोल ताड़ता हुआ।
क्रूर कंसके कुटिल प्रस्तावोंको मानता,
पेचक समर्थक है, अर्थ खूब जानता ॥

ज्ञान-तन्तु चाट गई ज्वाला जगी क्रोधकी,
विवश बहा-सा जाता, नदीमें विरोधकी।
काले कुविचारोंमें प्रलिप्त हुआ सो गया,
काले सिंधुमें विलीन मनःपोत हो गया ॥

स्थूलको विसार, सृष्टि सूक्ष्म स्वप्नकी रची,
रचना वहाँ भी यही मारकाटकी मची।

भावीने स्व सूचना दी स्वप्न बनके हहा !
चौंक कर चिंतित, अधीर हो उठा महा ॥

शीघ्र प्रातःकाल ही बुलाया मंत्रि-वृन्दको,
काल-गति रोकनेको, रोपने कुफंदको ।
आये उसी काल वे भी पापी-उर-पाप-सें,
कंस-कुविचार-शरोंके वे महा चाप-से ॥

अहंकारने कहा हे मंत्रिवर्ग ! कीजिये—
मल्ल-क्रीड़ा-योजना—सुयश आज लीजिये ।
जिस-किस भाँति उन वनवासी सर्पोंको—
डालिये कुचल, विष-अंकुर सदर्पोंको ।

सचिवोंने 'हाँ' कहा, ले आज्ञा, वे चले तभी
जाकर की योजना तुरंत उन्होंने सभी ।
मल्ल-क्रीड़ा-शालाको सजाया वीर-चित्रोंसे
नाना भाव-पूर्ण भासे अंतकके मित्रों से ॥

देखनेसे चित्रोंको ही भय भासता जहाँ,
वीर-भाव वीरोंमें विलोक जागता जहाँ,
चारों ओर शालामें सजाए तीखे शस्त्र थे,
प्रखर अचूक, चकाचौंध-कारी अस्त्र थे ॥

शत-शत असियाँ थी, तूण शरोंसे भरे,
धनु थे सुदृढ़ टँगे, देख काल भी डरे ।

मुद्गर, परशु गदा, शक्तियाँ महान थीं,
रिपु-बल मापनेके दंडके समान थीं ॥

रक्तसे लिखे थे वीर वाक्य वीरता-पगे,
दुर्बल हृदय जिन्हें बाँच काँपने लगे ।
मल्ल-शालाका बनाया तोरण विशाल था,
जिसपै उड़ाया रक्त-केतु विकराल था ॥

देख रंग-शाला अनुमान होता था यही,
कालने वदन खोला, केतु—रसना सही ।
नानायुध—दंष्ट्रावली मुखमें चमकती,
कालकी प्रकोपना-सी मल्ल-शाला जँचती ॥

वीर वाद्य भेरी, तुरी, दुन्दुभि गरजते,
जिनका निनाद सुन वीर-वक्ष लर्जते ।
घोषणा पुरीमें घूमी मल्ल-महोत्सवकी,
छाती बैठी नगरीकी, ग्रीवा घूमी सबकी ॥

व्रजौकस-आवासोंमें जब घोषणा गई,
नंद ही हैं जानते जो घूमी उरमें रई ।
मल्ल-शालामें इधर संगिनी प्रपञ्चना—
लिये अवतार बैठी मानो है प्रवञ्चना ॥

चाणूर, मुष्टिक, शल, तोशल-से-पालतू—
हिंस्र, काया खूँदते है मानो जान फालतू ।

लोहके-से गात्र हैं गठीले, ठोके घनोंसे,
वीर्य-वारिके भरे वे लगते भू-वनों-से ॥

भव्य सिंहासन एक बीचमें है भ्राजता,
कंसके विराजनार्थ महा शोभा साजता।
चारों ओर मंचोंपर देखनेके हेतु हैं—
आके बैठे मांडलिक, पापके-से केतु हैं ॥

नाना नर-नारी दृश्य देखनेको आगये,
दीखते हैं नेत्र मात्र, इतने समागये।
नृपसे आहूत नंद-आदिक भी आगये,
समुचित स्थान सब शांति-युक्त पागये ॥

बाट देखता है स्वर्ण-सिंहासन कंसकी,
आँखें राह जोहती हैं यदु-अवतंसकी।
दम्भ-भरा, दर्प-भरा, ओपता गजेन्द्र-सा,
आया 'मद' झूमता, भयद भुजगेन्द्र-सा ॥

सामन्तोंने, सचिवोंने झुकके जुहार की,
मल्ल, सैनिकोंने भी स्वरीति अनुसार की।
हीरे, मणि, माणिकों की, मोतियों की लड़ियाँ,
कौंधती हैं शंपाके सदृश, फुलझड़ियाँ ॥

नेत्र हैं विशाल लाल, आग की-सी डलियाँ,
अंगदी भुजाओं में हैं पड़ती मछलियाँ।

वज्र की शिला-सा दृढ वक्ष सुविशाल है,
हँस रही हाथ में हठीली करवाल है ॥

बजने नगारे लगे, वीर उकसाने को,
निज-निज दावोंके दो हाथ दिखलानेको ।
ताल ठोक-ठोक मल्ल उतरे अखाड़े में,
मानो हाथी ऊधम मचाते खुल बाड़े में ॥

करते वे जब निज जंघा पर करावात,
नगरी में गूँजता यों, मानों हुआ शैल-पात ।
मल्ल-शाला-द्वार के वे देखो ठीक सामने,
चले आते हैं दो स्तम्भ, धर्म-छत थामने ॥

एक गौर और एक श्याम है शरीर से,
तेज दिपता मुखों पै, जँचते सुवीर-से ।
ए लो, आये द्वार-पास, रूप तो विलोकिये,
कुछ पलों के लिये ही चल चित्त रोकिये ॥

श्याम-गौर गातों पर पीत परिधान हैं,
अलकों में बंक अधरों में मुसक्यान हैं ।
लोचनों में तेज है, पानी है, कुछ बात है,
हृदय में क्या है, यह विधिको न ज्ञात है ॥

शाला-द्वारे झूमता है शैल-सा कुवलिया,
महामत्त महावत—दर्प-पूर्ण है हिया ।

देख कर वारण को एक तीव्र दृष्टि से,
हस्तिपसे बोले कृष्ण, वीर वाक्य-सृष्टि से ॥

"एरे ओ द्विरद-पाल हटाले द्विरद को,
कर डालेंगे विमद नहीं तो, कुमद को।"
पीलु-पति दुर्मति ने और भी अकड़के—
अनिगड़ गज को विगाड़ा—आगे अड़के ॥

नागकी निगाहें ताकीं नागके नथैयाने,
बलको सतर्क किया, चतुर कन्हैयाने।
हस्तके सुकौशलसे परिकरोंको लिया—
कटिमें लपेट—नट-वेष झटसे किया ॥

अलकें समेट कानों पीछे डालीं पीठ पै,
पैंतरे बदल, दृष्टि डाली गज ढीठ पै।
पेला पीलुवानने स्वपीलुको उबालके—
अंकुशकी आगसे—निगाहें क्रूर डालके ॥

ज्योंही टूटा मातंग मुकुंद पै बिगड़के,
शुंडसे तिलेक बच गये कृष्ण अड़के।
पीछेसे श्रीबलने विशेष युक्ति, स्फूर्तिसे,
गजको धकेला, बचनेको काल-मूर्त्तिसे ॥

भरके फुंकार नाग मुड़ा अति क्रुद्ध हो,
कज्जलके शैल-सा, नितांत अनिरुद्ध हो।

रामपै निगाहें डाल, मारनेकी ठानके,
पीलुपने पेला उसे और भी उफानके ॥

'बल' पै सकल बल डाल टूटा क्रोध-से,
पाँवोंसे कुचलनेको, गति अनिरोधसे ।
बाल-बाल बचे 'बल,' गज निज बलसे—
गया दन्तों-बल, भूपै, धँस गये हल-से ॥

इतनेमें हरिने पकड़ पुच्छ जोरसे—
खींचा—ले गये घसीट, लसे अहि-मोर-से ।
फिर तान एक मारा मुष्टिक हुँकरके,
गजने चिक्कार मारी, पीड़ासे फुँकरके ॥

देखते ही देखते मुकुंदने मातंगको—
विचलित कर डाला, उस महाअंगको ।
इस ओर राम उस ओरसे गोविन्दने
मुष्टिक प्रहार किये कौन गिने कितने ?

हाथीका हृदय बैठा हाथ किसके हैं ये ?
कालका प्रहार है या हाथ इनके हैं ये ?
मद भूला, मार भूला, भूला फुँफकारना,
किसी भाँति अपनेको चाहता उबारना ॥

एक गज वह था बचाया जिसे ग्राहसे,
एक गज यह जिसे खुद बने ग्राह-से ।

भारी भीम भुजंगके साथ ये नकुल-से—
लड़ते हैं स्फूर्ति युक्ति, धीरतासे, बलसे ॥

चबा होठ गोविंदने मारा धक्का बलसे,
भित्ति-सी ढहादी—और बोले भ्राता-बलसे—
" आर्य ! देखते हो क्या, उखाड़ो दाँत खलके,
मारो दुष्ट हस्तिपको, चलो इन्हें दलके ॥ "

मूली-से उखाड़े दन्त, रक्त-धारा निकली,
कर डाला ढेर कुवलया, मची खलबली ।
मारा उसी दन्तसे ही हस्तिपको क्षणमें,
डाल चले दर्पको कुदर्पके चरणमें ॥



कंस-वध

द्विरद के रद धरे, केसरी की गति से,
रंग-शाला-मध्य गये, ऋतु—रति—पति—से।
श्रमज झलकते मुखों पै श्वेद—कण हैं,
रण के सुलक्षण वे बने आभरण हैं॥

कोमल, कुटिल, काले कुन्तलों पै धूल है,
द्विरदसे समर्पित, शोभा—अनुकूल है।
गज—गामिनियों से गुलाल गिराई वहां,
गज—द्वारा रज से भराईं अलकें यहाँ॥

अथवा कुवलया ने लाज दिलाके कहाः—
"ग्राह से बचाया गज, आज मारते हहा!"
जहाँ-तहाँ अंगो पर शोणित लगा हुआ,
झाँकता है वीर रस आँखों में जगा हुआ॥

हाथ में लिये हैं दन्त दूज के मयंक—से,
श्वेत—श्याम वन उतरे वे, नभ-अंक से।
वैरियों को वीर रस लोचनों में भासता,
धीरता छुड़ाता वीर वेष, वीर—त्रासता॥

देखते हैं नारियों को जब वे विहँस के,
झूमता श्रृँगार रस आँखों में विलस के।
मदन-वसन्त के ये देवता-से भासते,
पलक-सलाईयों से दीपक हैं चासते॥

और जब घूमके वे सरल-सी दृष्टि से —
देखते हैं गुरुओंको, शिशुता की सृष्टि से।
मानो ये कुसुम अभी डालियों पै डोले हैं,
बिना ताव पै चढ़े ये माखन के गोले हैं॥

बड़ी-बूढ़ी माताएँ अशीषतीं हैं मन में
होती हैं मुदित महा आज के जीवन में।
गोपों को विलोकते वे उसी भाव से तथा
दीखते हैं 'कान्हा' 'बल' उनको तो सर्वथा॥

ऋषि-मुनियों की ओर फेरते निगाह वे,
जँचते हैं उनको तो अगम-अथाह वे।
भक्त देखते हैं उन्हें आँखें तर करके,
दीनबंधु, दीनानाथ—भाव उर भरके॥

मल्लोंने तो माना उन्हें मल्लराज सर्वथा,
देख भुजदंड और सोच दन्तीकी कथा।
नृपको विलोका जब उन्होंने स्व-भावसे,
कंसके हृदयके दुखाए दीर्घ घाव-से॥

मानो आज कालको है आँखों देखता खड़ा,
भीति, भ्रान्ति, क्लान्ति आदि जालिकामें जकड़ा।
ताकता है क्रूर कंस वैरी सुकिशोरको,
कंचुकीसे अंध सर्प देखता ज्यों मोरको।

इतनेमें चारणूरने आगे बढ़के कहा,
दोनों बंधुओंके प्रति वाक्य गढ़के महा।
" एजी बलभद्र ! नन्दसूनो ! सुने आपके—
बलके कौशल, वृत्त—दैत्य-परितापके ॥

कुवलया-ऐसे महामत्त गजराजको—
आपने पछाड़ा, सुन मोद भोजराजको।
मल्लता जताते ये तुम्हारे भुजदंड हैं,
वक्ष-कंधरा बताती, बली ये अखंड हैं ॥

आइये दो दाव दिखलाएँ भोजराजको,
प्रमुदित करें आज दर्शक-समाजको।
नृपका निदेश पूरें, करें मनोरंजना,
वीरो ! निज मनमें न अन्यथा समझना ॥ "

देश-कालको विचार सरस प्रकारसे,
बोले दामोदर वाक्य सार्थ, अविस्तारसे।
" मल्ल ! कहना तुम्हारा समुचित सर्वथा,
नृपका आदेश कहो कौन करे अन्यथा ?

जो भी आज्ञा हम पै हुई है, उसे पालेंगे;
हम इनकी प्रजा हैं, भला कैसे टालेंगे ?
बालक हैं देखो पर, बालकोंसे लड़ेंगे,
नृप-मनोरंजन करेंगे, खूब अड़ेंगे ॥

आपकी हमारी जोड़ी कभी सोहती नहीं,
देखनेसे दर्शकोंके मन मोहती नहीं।"
चाणूरने कहा—"आप घबराइये नहीं,
भावुक ! कुभाव भूल उर लाइये नहीं॥

चाह पूरी हुई जान—"बोले, अच्छा चलिये,
तब हमें भीति क्या है, आइये, निकलिये।"
चाणूरसे कृष्ण और मुष्टिकसे बलका—
भिड़ना नियत हुआ—हिया खिला खलका॥

साज सजे बालकोंने लोहा लेनेके लिये—
लोहोंसे—लहूमें उन्हें रंग देनेके लिये।
सुगठित हृष्ट-पुष्ट केहरि-सी कटियाँ,
जाँघियों पैं लगती हैं उड़-उड़ दृष्टियाँ।

काँच-से चमकते शरीर सुगठीले हैं,
प्रकृतिके हाथों-गढ़े गोले नीले-पीले हैं।
उलट चिकुर-जाल, जूड़े बाँध लिये हैं,
मानो सर्प-शिशु सोये सोम-रस पिये हैं॥

जघनोंकी गोलाईसे पुष्टता टपकती,
विजय-कुमारी वरमाला लिये तकती।
यदपि चाणूर और मुष्टिक महान है,
जाते डीलडौलमें त्रिलोके बलवान हैं॥

दर्शकोंकी दृष्टियां तो छली छोकरोंसे हैं,
इनके समक्ष उन्हें ठेलें ठोकरोंसे हैं ।
भुजाएँ पसार कढ़े दोनों मल्ल कंसके,
सचल अचल देख हँसे बच्चे हंसके ॥

जुटी दोनों जोड़ियाँ विजय-भाव भरके
प्राण-हरनेकी घात करें, दाव करके ।
आगे-पीछे ठेलते हैं पूर्ण बल करके,
एक दूसरेको जीता चाहें छल करके ॥

चाणूर चलाता है चपेट जब युक्तिसे,
कृष्ण काट जाते उसे तत्क्षण यों स्फूर्तिसे ।
जैसे भारी भुजगकी फणा-फटकारसे—
बचता है पक्षिराज, पक्षोंके आधारसे ॥

वह देखो मुष्टिकको ठेले जाते राम हैं,
अभिराम—तनु लड़ रहे अविराम हैं ।
स्वेद-कण भोले-भोले मुखों पै झलकते,
ललनाओंके विलोक लोचन छलकते ॥

मृदुमन महिलाएँ भयभीत होगईं,
मुग्धाएँ माताएँ काँप—काँप पीत होगई ।
बोलीं—" देखो, नृपति का कैसा निंद्य कर्म है,
बर्जता नहीं है इस युद्धको, ये धर्म है ?

कहां ये सुमन और कहाँ शैल—शृंग ये ?
कहाँ मांस-आशी गृद्ध, कहाँ भीने भृंग ये ?
आग लग जाय इन बड़े-बूढ़े, स्यानों को
राजाको सुझाते नहीं, जुझाते अयानों को ॥ ”

देवों को मनाने लगीं बहु भावनाओं से,
कामिनियाँ प्यारों-पगी जय-कामनाओं से ।
एक सखी बोली—“ जीजी ! भय की न बात है,
ये हैं वे जिन्होंने किया कुवलया-वात है ॥

ये हैं वे जिन्होंने प्राण पूतनाके छले हैं,
ये हैं वे जिन्होंने नाना दैत्य-दर्प दले हैं ।
ये हैं वे जिन्होंने मघवा को भी छकाया है,
ये हैं वे जिन्होंने बोध विधिका वटाया है ॥

देखती नहीं हो कैसी धीरतासे लड़ते,
सर्पके समक्ष श्येन-से दिखाई पड़ते । ”
रंग-शालामें जमा है खूब, रंग युद्धका,
देख रहा पूर्ण पात्र भावना अशुद्धका ॥

गोविन्दके गोल कपोलोंसे स्वेद जा रहा,
हिमके कणोंसे कंज-दल जैसे छा रहा ।
आजके लिये ही दूध माताने पिलाया था—
दे-दे बहु प्रलोभन, माखन खिलाया था ॥

चोर-चोर गोपियोंकी नवनी भी खाई थी,
आजके लिये ही मानों धेनुएँ चराई थी।
यशोदाका स्नेह-भरा नवनीत लड़ता,
तमोगुण साथ आज सत्वगुण अड़ता॥

विघातिनी घातें बहु चलाई चाणूरने,
काट डाली चरणोंकी चालसे मयूरने।
मारे जितने भी फण, विषधरने कड़े,
गये वे विफल सब, हरि ज्योंके त्यों खड़े॥

अनिमेष लोचन हैं, मन सबके वहीं,
योग-सा है सध रहा, वृत्ति हटती नहीं।
वाद्य हुए बंद सब अविदित भावसे,
बचा कोई नहीं इस योग के प्रभावसे॥

दिव्य बिम्ब धरे, खड़े चुपचाप देव भी,
व्यालों को लपेटे चन्द्रभाल महादेव भी।
अष्ट लोचनों से चतुरानन निहारता,
वत्स-धेनु हरने की बातों को विचारता॥

वासव विलोक रहा गोवर्द्धन-धारी को,
आज इस रूपमें है, निज मद-हारी को।
मन्द मन्द हँसते हैं देवता चाणूर पै,
अविदित सर्प उस भेक भीम क्रूर पै॥

भाग्य भी सराहते हैं, विस्मित भी होते हैं,
कंपित, कृपित कभी कुपित भी होते हैं।
चातुरीसे चारों चतुरोंकी चोटें चलतीं,
मारी ठोकरोंकी भूमि डगमग डुलती॥

बालकोंके ऊधमसे माँची-सी मचकती,
वैनतेय-भार से है शाखा-सी लचकती।
क्यों न लचे भूमि आज रीति विपरीत है,
पीठ को पवित्र मान प्रणत-विनीत है॥

धूलि-मयी रंग-शाला धूम्र-मयी-सी बनी,
अलक-पलक बालाओं की उसीमें सनी।
गोपों को चिन्तित जान भीत नारी-वृन्दको,
आया ध्यान मानसमें तत्क्षण गोविंन्दको॥

युद्ध को बढाया वीर-रस को जगा दिया,
चाणूर के हृदय से धैर्य को भगा दिया।
झुक के तनिक तान चरण विपक्षी के,
क्षिति से उठाया, नेत्र घूमगये कक्षी के॥

देके मारा वेग से, धरा पै धू-धड़ाक से,
बैठे वक्षोपरि जाके श्येन-ज्यों फड़ाक से।
चूर-चूर कर डालीं अस्थियां सुवक्ष की,
तोड़ डाली मेरु-अस्थि तत्क्षण सुकक्ष की॥

मुष्टिकमें 'बल' में विशेष युद्ध हो चला,
एक दूसरेके चाहता है प्राणोंको छला।
मुष्टिक-प्रहार हुए बलभद्र पै कड़े
विचलित वे हुए न, रहे ज्यों के त्यों खड़े ॥

पुष्पोंके प्रहारसे क्या कलभ विचलता ?
बुंदाघातोंसे क्या दुर्ग-बुर्ज़ कभी गलता ?
हो चले हैं रक्तवर्ण सूत्र राम-नेत्रोंके,
भासने लगे वे उपमान विद्युन्नेत्रोंके।

काटकर ओष्ठ 'राम' ने तमाचा तानके,—
मारा वाम हस्तसे—गिराया खंभ मानके।
रक्त वमता हुआ सरस तरु-सा गिरा,
भूमितल पै अनाथ-असहाय-सा निरा ॥

भूपकी भुजा-सी भग्न कर डाली क्षणमें,
इन्द्र-रथकी-सी ध्वजा टूटी पड़ी रणमें।
देखा दोनों मल्लराज महा निद्रा सो गये,
सारे साथी एक साथ स्वप्न-सृष्टि हो गये ॥

देवोंने की पुष्प-वृष्टि 'जय-जय'—नादसे,
दर्शकोंके हृदय प्रफुल्लित आल्हादसे।
पदाघातोंसे जो भू के गातों क्षत थे पड़े,
पुष्पोंकी मर्हमसे वे शांत होगये बड़े ॥

नहीं—वसुधा है सौ-सौ नेत्रोंसे निहारती,
सानुज स्वधारक पै—तन, मन वारती ।
कंस बैठा देख रहा वैरियोंकी वीरता,
वर्द्धित विलोकी वह्नि-शिखा, तजी धीरता ॥

सिंहासन-आसीनको क्रोधने उठा लिया,
काँपने शरीर लगा और धकने हिया ।
बोला—"इन नंद आदि शत्रुओंको मैं सभी—
सुतोंके समेत सौंपूँ अंतकको, लो अभी—

और नीच वसुदेव-देवकीके क्षणमें—
सोखूँ सिसकाके प्राण, सुतोंके स्मरणमें ।
तात उग्रसेनको भी स्वाद मैं चखाऊँगा,
मेरे वैरियोंसे प्यार करना सिखाऊँगा ॥"

दाँत पीस, काट ओष्ठ, असिको सँभालके,
चाहता था बढ़ना ही कायाको उछालके ॥
विद्युत की गति से ही बलने उछल के,
हरली प्रखर असि हाथ से मातुल के ।

कूद के केशवने जा केश वरही लिये,
बन्दी कर लिया वैरी, जाना वह भी हिये ॥
बंधु-घाती दोनों हाथ रामने उलट के,
पीछेसे आवद्ध किये, देने लगे झटके ।

शाखी-सा हिला रहे हैं बालक ये गज के,
आमूल उखाड़ने को सारा बल सज के ॥

चिपटे हुए हैं, युग केशरी-शावक-से,
तृण-तोम पर दोनों लसते पावक-से ।
भीमकाय विषधर फुंकृत भुजगसे,
युगल-नकुल-से उलझते ये विलसे ॥
कंटकित इंधन पै जगते अँगार-से,
धधक रहे हैं धीर, वीरत्व-व्यापारसे ।
" अनय अभूत है ये सर्वथा अधर्म है,
पुण्य की प्रतारणा है, पीनपाप-कर्म है ॥ "

सुना सभाने प्रलापते यों धर्म-धारी को,
धर्मकी दुहाई देते पुण्यके पुजारी को ।

* * *

कृष्ण बोले-' तुम जैसे धर्मज्ञ न मिलेंगे,
जगतीके अहो ! आज धर्म-स्तंभ हिलेंगे ।
पुण्यके तो आपही थे स्थान एक, जगमें,
जनता लगाते रहे सदा शुभ मग में ॥
पापके न पास गये, पूजे गुरु सर्वदा,
पंडित तुम्हारे जैसे आते हैं यदा-कदा ।
सत्य है तुम्हारा बोल, पाप हम करते,
धर्मको उखाड़ते हैं, पाप-भांड भरते ॥

शीघ्र यह धर्म-नीति जाके कहिये वहाँ,
हिरण्याक्ष, वेन और रावण वसे जहां।
आज जाने धर्म तुम? नीति और कर्मभी,
नाम लेते इनका न आती तुम्हें शर्मभी?'

दोनोमें संकेत हुआ, शीघ्र सिंहासनसे—
क्षिप्त किया क्षितिपर रक्त चला तनसे।
अस्थियां विचूर्ण हुई, जैसे वृक्ष शालका,
टूटता है झंझासे, त्यों द्विषण गोपालका॥

विस्फारित दृग और विवृत्त वदनसे,
उच्छ्वासित, भीतभाव, रहित सदनसे।
पड़ा है अनाथ, असहाय हुआ सभामें,
दीखता नहीं था जिसे विभवकी विभामें॥

वाँचता है आज वही कर्म-लेख अपने,
देना चाहता न था जो काल को पनपने।
प्राणोंके पँखेरू पाँखें तोल रहे अपनी,
उड़नेके हेतु होठों आये, विपदा वनी॥

कृष्णका था ध्यान पूर्व, अब वही ध्यान है,
कृष्णके सिवाय किसी वस्तुका न ज्ञान है।
धीरे-धीरे प्राणोंका लवण गलने लगा—
कृष्ण-द्वेष-सागरमें—खल जलने लगा॥

कृष्ण बोले "बेला जान मातुल ! विचारिये,
निज कृतकर्म फले यही चित्त धारिये।
काल रोकनेको जाल कोई कितने रचे,
अञ्चलमें वह्नि बाँध दग्ध होनेसे बचे ?

पापोंका दुर्जर विष पेट पचता नहीं,
नियति नियमसे है कोई बचता नहीं।
राजा, प्रजा पर करे मनमाने अत्याचार,
छीन लेती जैसे प्रजा दिये हुए अधिकार ॥

वैसे, पापियोंसे प्राण छीन लिये जाते हैं,
लोक-दुःख-दायी नहीं क्षमा किये जाते हैं।"
सकरुण, रोषभरी, दोषभरी दृष्टिसे,
कंसने विलोका कृष्ण अंतक-आकृष्टिसे ॥

दो मोती दे, प्राणोंने प्रयाण किया पलमें,
प्रणतोंका पद पाया प्रणके पालनमें।
सचिवोंके सिर झुक गये एक साथ ही,
सैनिक-सेनानी झुके, लगे तकने मही ॥

झंडा झुक गया राजधानीका तुरंत ही,
मुँदे मोद-द्वार सब मुँदते पलक ही।

*   *   *

रवि-शशि हँसे, हँसा मुदित गगन भी,
वसुधा विहँसी, हँसी शम्पा, सह घन भी।
हँसी एक साथ मुनि-गणकी समाधियाँ,
हसन-स्वरूपा हुई विश्व-आधि-व्याधियां ॥

शारदाकी नारदकी वीणा बजने लगी,
मोद-मत्त हुई यश-रस वर्षने लगी।
हँसे पारिजात पुष्प साथ सुर-वृन्द भी,
नभमें निनादे मंद-मंद मृदु दुन्दुभी ॥

नर-नारी दर्शकोंने अति ही आल्हादसे,
वसुधा गुँजाई 'जय वासुदेव'—नादसे।
वायु पर चढ़ नाद बिखरा दिगन्तमें,
कोने कोनेमें समाया ऊपर अनन्तमें ॥

कन्दराएँ गूँजी जो थी मौन चिरकालसे,
'जय जय कृष्ण' इस शब्द सुरसालसे।
कविके हृदयमें भी वही गूँज गूँजी है,
व्यास-सूर आदिसे उधार ली जो पूँजी है ॥



द्वितीय अंग

मातृ-मिलन

उत्पाटिता कदली-सी कौन यह कोनेमें ?
घुन लग गया हाय ! यह कैसे सोनेमें ?
तेल-हीना दीवट-सी यह कौन जलती ?
कौन सूखे सर यह शफरी-उछलती ?

कौन यह मृतवत्सा धेनु-सी है हूँकती, ?
कौन यह भग्नडिम्वा कपोती-सी कूकती ?
कौन यह पास बैठा लिये दुःख-भार है ?
दुःखोंका आधार बना, दुःख अवतार है ॥

कृशकाय चिन्ताओंसे—विपदाओंसे तपा,
जपता है प्रतिक्षण जप डर अजपा ।
जीर्ण-शीर्ण वस्त्र और बढ़े मुख-रोम हैं,
अर्द्धश्याम-श्वेत अस्त-व्यस्त शिर-लोम हैं ॥

वृद्ध बरगद-तरु तले लता-सी पड़ी,
गज-द्वारा दलिता-सी भामा दुःखिता बड़ी ।
गवाक्षोंमें लूताओंने जाले बुन रक्खे हैं,
मृत मक्षियोंने जहां सिर धुन रक्खे हैं ॥

उन्हीं जालोंमेंसे रवि-रश्मियां हैं आ रहीं,
छलमेंसे सत्यकी ये झाँकी झलका रहीं।
इन दुःखियोंके सिवा वहाँ चींटी भी नहीं,
चटकाओंकी न " चीं-चीं " सुन पड़ती कहीं॥

हाय ! ऐसे काले दिन वर्षोंसे बिताते हैं,
दम्पति दुखित-दीन दीर्घ दुख पाते हैं।
कभी-कभी 'आह' मूर्च्छिताकी कढ़ जाती है,
जिसे सुन पतिकी विपत्ति बढ़ जाती है।

आँखोंके तलेका भाग हुआ श्याम जिनका,
चिन्ता-रेखा-चिह्नित है भाग्य-धाम जिनका।
देख भामिनीका दुःख वसुदेव रो पड़े,
निशित शरोंमें धीर हा ! अधीर हो पड़े॥

धीरजन निज दुःखमें ही धीर होते हैं,
किंतु, पर-पीड़ामें महा अधीर होते हैं॥
तर हुआ अश्रुओंसे श्मश्रु-जाल जिनका,
मन है विषण्ण महा, तन हुआ तिनका॥

रोये वसुदेव फूट-फूट हा ! एकांतमें,
वडवा ऊपर आई सागर प्रशांतमें।
उद्वेलित सिंधु कभी देखा सीमा त्यागता ?
धीरोंका हृदय त्यों ही सीमा नहीं लाँघता॥

आये धीर ठिकाने पै सोच सतीकी व्यथा,
सान्त्वना दिलानेको सतर्क हुए सर्वथा।
इतनेमें देवकीने 'आह' भरके कहा,
वाक्य उर-वेधक हृदय चीरके हहा!

"हायरे! ये पापी प्राण पिंड छोड़ते नहीं,
खा-खाके असह्य चोट नाता तोड़ते नहीं।"
ठोंक कर कहा—"हाय! इस फूटे भालमें—
जाने क्या लिखा है, और देखना कुकालमें॥

छाती तलेसे निकाल धन दिये बैठी हूं,
हृदयमें कितने ही घाव लिये बैठी हूं।
कितने ही दिन बीते, बीतीं रातें कितनी,
मैंने जो सही हैं सहे कौन घातें इतनी?

मुझसी है नारी कौन जगमें अभागिनी?
छाती पर शिला धरे बनी बैठी नागिनी।
हाय रे! ये स्तन मेरे उच्छिष्ट हुए नहीं,
नव मृदु अधरोंसे गये हा! छुए नहीं॥

पापिनी का दूध भला कौन प्राणी पीएगा?
विषैली माता का दूध पीके कौन जीयेगा?
मेरी कूख बस-बस ऊजड़ है होगई,
दैवकी कुवर्षा मेरे सौख्य-चित्र धो गई।

नन्हे-नन्हे वत्स हाय "—वाणी वन्द होगई,
ज्वार आया हृदयमें सुध-बुध खो गई।
बोले वसुदेव किसी भाँति धैर्य धरके,
डिगते भग्नको हा! स्तम्भाश्रित करके॥

"देवि! धैर्य धारो, देखो, सोचो निज मनमें,
दिन एक-से नहीं हैं बीतते जीवन में।
धूपके पश्चात छाँह, वर्षा ग्रीष्म बाद है,
वैसे ही विषाद बाद निश्चित आल्हाद है॥

दिन तुमने विताए जिस भाँति इतने,
ये भी यों विता दो, शेष रहे और कितने?
धीरता की तरणिसे व्यथा-सरिता तरो,
भाव भवाधार का ही निज मनमें धरो॥

उगेगा हमारा कभी भाग्य-भानु क्या नहीं?
धधकेगी पापी-उरमें कृशानु क्या नहीं?
जी जलाते अन्यका जो जलते वे आप हैं,
पास-पास जाते कभी सुने पुण्य-पाप हैं?

लेकर उच्छ्वास तब आँखें भरके हहा!
देवकी सतीने वाक्य कंप स्वरमें कहा।—
"देव! कैसे धैर्य धरूँ उर सौ-सौ खंड हैं?
प्राणोंको प्रदाह रही चिन्तानल चंड है॥

मैं हूँ वह लता, पुष्प-रहिता जो की गई,
मैं हूँ वह रत्न-निधि जो कि लूट ली गई।
मैं हूँ वह खनि, जोकि खोद खाली की गई,
हाय ! मुझ आँख की है दृष्टि हरली गई ॥

हायरे ! ये गोद मेरी कभी भीगी ही नहीं—
वत्सोंकी सु-लालाओंसे, वंचिता सदा रही,
आँगनमें मेरे कभी खेले लाड़िले नहीं,
माँ होके भी नाथ ! मैं 'माँ' सुने विना ही रही ॥

बुझ जाते दग्ध प्राण आज तक कभी के,
विना घी के दीप-से ये जलते क्यों तभी के ?
आज का-सा दृश्य वह आंखोंमे है झूलता,
वही झाँकी प्राणों को बनी है अनुकूलता ॥

नवश्याम तामरस सुविकच सर्वथा,
सस्मित विलोकते को सौंपा सहके व्यथा।
नाथ ! आपके करों में फूल-सा टिका दिया,
रोरहा है उसके ही ध्यान में बँधा हिया ॥

सुनती हूँ देव ! आज मेरा पुष्प आया है,
कंसने कुचक्र कोई रच के बुलाया है।
क्रूरने कुचलनेको उसे यंत्र रचे हैं,
चाणूर- कुवलया-से मद पी-पी मचे हैं ॥

हायरे ! कुचल दिया जो तो मेरे लालको,
हथोड़ोंसे फोड़ देंगे इस मेरे भालको।
प्राणो ! कुछ सुननेके पूर्व भाग जाओरे !
पापिनीको एकाकी यहीं पै त्याग जाओरे !

प्राणो ! तुम तो न जलो, मैं ही जल जाऊँगी,
दाहक संवाद सुन, शीत हुई पाऊँगी।
आज मेरे पाप और पुण्योंकी परीक्षा है,
देखू, फलें पाप, या कि तपस्या-तितिक्षा है॥

नाथ ! मैंने कोई पाप आज लौं किया नहीं,
किसी प्राणी को भी कष्ट कोई-सा दिया नहीं।
चींटियोंको चिड़ियोंको चुगाती थी मैं सदा,
नाना भोग मीनोंको भी पुगाती थी मैं सदा॥

बाल्यकालसे ही मुझे प्राणी मात्र प्यारा है,
चूँटा चित्त किसीका न बोल, बोल खारा है,
देखती हूँ जब भी मैं दृष्टिको पसारके,
पाप दीखता न कोई, स्तब्ध हूँ विचारके॥

फिर आज मुझपै क्यों गाजें गाज रही हैं ?
पातके प्रथम ही जो गात दाझ रही हैं।"
रोने लगी सती रोते-रोते स्तब्ध होगई,
वैखरी परामें समी, सुध-बुध खोगई॥

काष्ठ हुए वसुदेव, लग जो विचारने,
मृण्मय बनाया चित्र मानो चित्रकारने।
योगियों के चित्तमें भी इतनी एकाग्रता—
लाती नहीं समाधि, जो लाती कभी व्यग्रता ॥

दम्पति हुए हैं ब्रह्म -अम्बुधि- में लीन-से,
बाह्यता विहीन अहा ! आत्म-नीर-मीन-से।
दोनों हंस-हंसिनी वे मानो मान-सर में,
लगे जा विहरने, शरीर स्थित घर में।

देखते हैं एक अति अमल नवल है,
सलिल सुपूर्ण सर सरस धवल है।
स्वर्गके सरोज सब स्फुटित हैं जिसमें,
मनोहर प्रतिबिंब बिलसे हैं जिसमें ॥

शीत, मन्द, सुगंध समीर कम्पाती जिन्हें,
भ्रमरोंकी भीड़ भीनी ध्वनि सुनाती जिन्हें।
नील, पीत दो सरोज उन्हीमें निराले हैं,
सरसिके दृग-से, जो स्नेह-रस-प्याले हैं ॥

पुष्पित लताएँ नाना तरु सफलित हैं,
सरके सुतीर पर सर्व सुरभित हैं।
शुक, पिक, सारिका शिखी हैं शिखिनी जहाँ,
श्रोत-सुख-दायिनी बहाते बाहिनी जहाँ।

लघु-लघु वीचियाँ वनज-वन-वरोंको,
परसके पूत करती हैं निज करोंको।
आया उस ठौर एक कुंजर विहरने,
सरसिमें पीनेको सलिल, स्नान करने॥

सत्वर सुजल सर पंकिल वना दिया,
जलचरों, जलजोंके हियेको हिला दिया।
मीनोंके विहार और भृंगोंके आधारको,
विलोडित कर डाला क्षणमें कासारको॥

कितनी तो कंज-कलियोंको खिले विना ही—
मर्दित की, हायरे! पराग मिले विना ही।
गंड स्थलोंसे था मद झर रहा जिसके,
मधुप वहीं जा झूमे, कामुक हों किसके?

नील-पीत पंकजों की ओर बढ़ा तोड़ने,
शुंडको वढ़ाया, भाल सर-श्री का फोड़ने।
निमिषमें दोनों कंज काले-पीले होगये,
विषधर महानाग विना कीले होगये॥

दंशन किया तुरत दोनों विषधरोंने,
मदकल मातंग को, अरविन्द वरों ने।
भस्मीभूत हुआ गज दंशते ही छनमें,
जय-जय ध्वनि गूँजी सरके आँगनमें॥

समाधियाँ भंग हुई यहां इन दोनों की,
साँकल खुली है नहीं लोचनोंके कोनों की।
ब्रह्म-निद्रा-उत्थित ये तन्द्रित-से हो रहे,
सोच चमत्कार चारु, विस्मित-से हो रहे ॥

"जय वसुदेव-देवकी की, वासुदेवकी"
सुनी ध्वनि दूरागता, चौंक उठी देवकी।
तार, मध्य, मन्द्र घोष बाल, युवा, वृद्धोंका,
आनन्द, उल्लास भरा, पूत प्रेमाबद्धों का ॥

नभके छोटे-से अंकमें समाता है नहीं,
समुद निनाद आज वास पाता है नहीं।
तृषित मृगी जो सुने निर्झर-निनाद को—
कौन कह सकता है उसके आल्हादको?

ओष्ठ-प्राणा चातकी जो दृग मूंदे हो पड़ी,
खोलती ज्यों नेत्र, सुन घन-घोषणा बड़ी।
देवकीने नेत्र खोले, साथ मुख-कान भी,
पीने लगी रव-जल, भूली देह-भान भी ॥

दोनों पति-पत्नियोंका उर नाचने लगा,
दृग-दीपोंका सु-तेज दीप्ति साँचने लगा।
ज्यों-ज्यों वह नाद-दीप्ति करती निकटता,
त्यों-त्यों यहाँ तम की भी हटती बिकटता ॥

वाचक ! विलोकिये, छटा तो आते हुओं की
वसुदेव-कीर्ति-केतु फहराते हुओं की,
देवकी-सीपी को सफल बनाते हुओं की,
यशोदा के यश से दिशा गुँजाते हुओं की ॥

प्यारकी छड़ी का स्वाद बगराते हुओं की,
नन्द-उर-उदधि को उफनाते हुओं की
नवनीत-प्रियता को सरसाते हुओं की,
गो-पालन-महिमा को दरसाते हुओं की ॥

तुरी, भेरी, झाँझ, शंख, मृदंग सुहाते हैं,
नभको गुँजाते हुए आगे-आगे आते हैं ।
सवर्णों के जय-नादों नभ हरसाता है,
देके प्रतिध्वनि दूना मोद दरसाता है ॥

हाथसे मिलाए हाथ दोनो चले आते हैं,
सुषमा-सदन-से सुरस सरसाते हैं ।
केश बिथुरे हैं बाँके पीठतक जिनके,
डाल दें पलक इन्हें देख दृग किनके ?

बड़े-बड़े लोचन सतेज, रसभीने हैं,
अलियोंने रस अभी जिनके न छीने हैं ।
अधरोंकी लालिमाकी सुषमा निराली है,
श्यामकी तो, वेणुने हाँ, थोड़ी-सी चुराली है ॥

दशनोंकी दीप्ति दिव्य रह-रह कौंधती,
दर्शकोंके चारु चक्षुओंको चकाचौंधती।
रसके कलश-से शरीर सुसजीले हैं,
प्रकृति-कुम्हारीके ये घट नीले पीले हैं॥

ौरभित मुकुलित सुमन-सुहावनी,
ंठोंमें पड़ी हैं लम्बी मालाएँ प्रभाविनी।
ोचन-तिलक दिव्य दिपते ललाटों पै,
ौख्यकी-सी चावी लगी भाग्यके कपाटों पै॥

शुभ्र श्मश्रुओंको वार-वार हैं सँभालते,
आनँद-पूरित ह्रत स्नेह दृष्टि डालते।
गोपराज नंद, पीछे-पीछे मंद गतिसे,
पुण्योंके-से फल लिये चलते विनतिसे॥

र-नारियोंका संघ उफना है जा रहा,
मकी लहरियोंसे लहराता है अहा!
ातृ-पूजा-सामग्री सजाई शुभ्र थालोंमें,
न्द्रमा चले हैं चढ़ पारिजात डालोंमें॥

एरे! वन्दीगृह वंद्य! तुझको बधाई है!
देख, तुझे तीर्थ-भूमि किसने बनाई है!!
कारावास पास गये जहाँ दो पाषाणके—
प्राणी बैठे वत्सरोंसे, जले हुए प्राणके॥

" जय माता देवकीकी, जय वसुदेवकी, "
जय बलभद्र वीर, जय वासुदेवकी। "
घोषणा की जनताने बार-बार प्यारसे,
छिड़े कारा-कोठरीकी तंत्रिकाके तार-से ॥

ताले झड़ पड़े काली कोठरीके आपसे,
चेतना जड़ोंमें आई चेतन-प्रतापसे।
दौड़े बछड़े-से दोनों भूखे चिरकालसे,
पीने दूध जननीका प्रेमके उछालसे ॥

पूत पदोंमें वे जाके लिपट गये अहा!
प्रेम-पय पीने लगे प्यासे-भूखे-से महा।
माताने उठाया उन्हें शीघ्र स्नेह-भावसे,
छातीसे लगाके रोई, जली दुःख-दावसे ॥

हर्षने विषादको जा उरसे निकाला है,
आता रक्त साथ-साथ कढ़ता जो भाला है,
एरी मेरी लेखनी! तू कैसे उस प्यारको—
व्यक्त कर सकती है, शुचि स्नेह-सारको?

लोहमयि! तू लिखेगी कैसे कथा मोमकी?
चींटी भी पा सकती क्या थाह कभी व्योमकी?
माताका हृदय होता माताके ही पास है,
माताका-सा उर न विधाताके ही पास है ॥

कवि अनपत्य नित्य, कैसे उस सत्यका—
व्यक्त कर सके भाव सरस अपत्यका ?
द्युति-हीन सदनमें विद्युत-सी आगई,
स्वाति-जलका सुयोग चातकी ज्यों पा गई ॥

प्यारों–पगी सती, सुत–मुख चूमने लगी,
मोद–मद–मयी मंद–मंद झूमने लगी ।
जलता था चित्त जो अपार चिन्तानल में,
पीयूष–प्रवाहिनी में बहा इसी पल में ॥

दोनों बंधु उसी क्षण पितृ-पदों में झुके,
वसुदेव के न हर्ष–अश्रु रोके से रुके ।
छाती से लगाया धन खोया चिर कालसे,
वर्षों से विकल थे जो मणि खोये व्याल-से ॥

अनवधि विरह के क्षत भर-से गये,
सुख के समुद्र डूबे, दुःख तर-से गये ।
सबके हृदय लहराने–से लगे वहां,
सुख के सुकेतु फहराने–से लगे वहां ॥

देखा वसुदेव ने खड़े हैं धन के धनी—
नंदजी बाहर, आहा ! बढ़ी मुदिता घनी !
दौड़े अति प्रेम से लिपट गये छाती से,
जीवन की नौका गढ़ लाने वाले खाती से ॥

मानो उर भग्न होगा, अभी, इसी क्षणमें,
मुँह छोड़ रोने लगे, बँधे कृत-ऋणमें
मित्र—उपकृति का न भार देता बोलने,
" नौका गढ़ लाया, आया साथ चिन्ता छोलने।"

प्रेम की प्रवाहिनी में बह नंद भी गये,
एक दूसरे को पाके दोनों आज जी गये।
धराके शृंगार-कार इन स्वर्ण-कारों का,
हटे दृश्य आँखों से न यह सच्चे प्यारोंका ॥



तृतीय अंग

श्रावण-सुषमा

गिरि-राजिसे अंकित अर्णव-सा नभ नील घनोंसे है सोह रहा,
गतिवान हुआ पवमान लिये, मृदु मानुषोंके मन मोह रहा।
यमुनाके सुनील प्रवाह में जो झुक, झाँक स्वरूपको जोह रहा,
वन-मर्कत-राजिको आज महा नभ यामुनी-डोरमें पोह रहा॥

विटपोंके सुनील महा दलमें मनमोहिनी सावनी शोभा लसी,
परिचालित शीश समीरणसे नव शाखी समूह छटा सरसी।
सफली द्रुम आज विनीत-से हो, हिय हर्ष रहे जलके परसी,
यमुना तटनीके महा तट पै वटके विटपों की घटा विकसी॥

परिछाँह पड़ी जलमें जिनकी उस श्यामल तोया तरंगिनीके,
नव केंचुली-आवृत्त चञ्चल-से विलसे सुत, भीम भुजंगिनीके।
तटकी नव दूब महा मृदुमें चरते सुत भोले कुरंगिनीके,
उड़ते हैं यहांसे, वहांसे यहां, भृंग पीछे पड़े हुए भृंगिनीके ॥

वट, पीपल, नीम, कदम्ब, तमाल, रसाल विशाल विशेष जहां,
निज छाँहसे फूल, फलोंसे रहे, हर चेतन मात्रका क्लेश जहां।
शुभ सात्विक देशमें जीव सभी सुखसे बसते गतद्वेष जहां,
रमती नित पंखिनी शान्त स्वतंत्र स्वकान्त वियोग न लेश जहां ॥

कल कूज रहे पिक आदि पखी श्रुतिमें रस-सा बरसाते हुए,
नचता है शिखी उच पुच्छ हुआ शिखिनीको कला दरसाते हुए।
मन देते—दिलाते, रिझाते हुए निज संगिनीको हरसाते हुए,
कल केका उठी बन—राजिसे एक हृदै सबका सरसाते हुए ॥

तट गूँज उठा, वट कूज उठे, नट नाच उठे इतराते हुए,
सर ऊल-उठे, तरु फूल उठे, थल-जीव सुखी उनमाते हुए।
बहु टोल गवालोंके कान धरे कर, चावसे डोलते गाते हुए,
यमुना तटके सब जीव सुखी शुभ सावन मास बिताते हुए ॥

शुभ धेनुएँ पूरित ऊध सनेह सनी बछड़ों—बिछुड़ी चरतीं,
चरके कितनी परितृप्त हुईं तृणमें बस पागुर हैं करतीं।
प्रथमा नवजात स्ववत्सको चाट रही निज वक्ष-तले धरती,
नव-आयु सुवत्सोंकी टोली कहीं फिरती मृग-चौकड़ियाँ भरती ॥

निज चंचुसे चंचु गहे सुकपोत कपोतीके प्यारको लूट रहा,
नभको जल-पूरित देख व्रती खग जीवन-आशको घूट रहा।
नव पावससे परिमार्जित कीर-पखों-मिस सावन फूट रहा,
तरुके तलुवोंमें पड़ी अबतो व्रत वेलि-वधूका है टूट रहा॥

रवि-तनया के तीर पर, छाई विपुल बहार।
तृण, दल, किसलय, कुसुम पर, पड़तीं मंद फुँहार॥

घटा ऊलतीं काली—काली,
चली झूमती-सी मतवाली।
गर्ज रहा श्रुति-सुखद रसीला,
नीलाम्बर वन सघन सजीला॥

पौर्व-वायु चलता अति मंदा,
हर-डर-कंपित-स्मर-का फंदा।
वकुल-पंक्ति अति शुभ्र निराली,
चित्रित जिनसे हुई वनाली॥

असित पटल पर लिखे प्रकृतिने,
सुन्दर धवल वाक्य यों भीने—
" अरे मानवो! मानस धोलो,
चिर विमुदित घटके पट खोलो॥

अलसित प्राणों को पनपालो,
परम दिव्य जीवन अपनालो,
सावन वसुधा पर न समाता,
अणु-अणु में से फूटा जाता॥

वीरबहूटी वृन्दकी, आभा यों भरपूर।
मानो मघवा ने दिया, भू के भाल सिंदूर ॥

स्मृति

भग्न शिलाके कोने पर वह बैठा, देखो, देख रहा,
सावन का यह समा सरसवर निज मानस पर रेख रहा।
ब्रह्मचर्य का तेज दीप्त है जिसके रोम-रोम में व्याप्त,
बैठा है सन्तुष्ट हुआ-सा, किये प्रकृति-अध्ययन समाप्त ॥

पुरुष-प्रकृति का पंडित पारग, बैठा किये समीक्षा-सी,
कर्णधार का कर्म लिये जो करता एक प्रतीक्षा-सी।
मुख-मंडल पर झलक रहे हैं उसके भाव नितांत उदात,
अवयव हैं सब एक-एक से बढ़ कर शोभित सह अनुपात ॥

वीरों की-सी सुगठ नासिका वीर-भाव-सा दरसाती,
वे त्रिवर्णिका आँखें जानें रस क्या-क्या हैं बरसाती।
जो विशाल हैं, अनीदार हैं, उज्ज्वल, पानीदार घनी,
काली, तिरछी, पैनी पलकें, जिनकी वेधक धार घनी ॥

उज्ज्वल दशनों की आभा पर पड़ती अधरों की लाली,
संग-रंग में रँगी रदों की कुछ-कुछ अनुपम उजियाली।
विशद भाल अति अमल कांति-युत चमचम करता चमक रहा,
जिस पर केशर-तिलक सोहना कनक-लीक-सा दमक रहा ॥

पुष्ट स्कंध अति, वृहत् वक्ष पर कुछ-कुछ रोम-राजि छाई,
उदर-लोम की लम्बी रेखा स्वर्गंगा—सी मनभायी।
कटि में बाँधे पीत वसन वर आधा कंधों पर डाले,
बैठा है उद्ग्रीव, पृष्ठ पर कुंतल छिटक रहे काले॥

मनमें चिन्ता, शोक, भीति ये भवके लेश विकार नहीं,
आत्म आत्म में तुष्ट हुआ है, हिलता मन का तार नहीं।
सरस अनाघ्रित सद्य सुविकसित असित तामरस वर लसता,
आभा फूटी पड़ती तन से, रोम-रोम जिसका हँसता॥

प्रकृति निरख कर जो प्रमुदित है, प्रकृति जिसे लख गर्वित-सी,
आकर्षित—सी दर्शित होती, लोटपोट है हर्षित—सी।
जिसके दीर्घ दृगों से उझला पड़ता प्यार चराचर का,
जिसका उर समता में स्थित है, मोह न जिसे निजापर का॥

दीन जनों का बंधु एक ही जो दुखियों का है संगी,
पुण्यजनों का प्यारा है, जो प्रेम—रंग का है रंगी।
निज दासों का दास अज्ञ बन बिकता कौड़ी-कानी में,
इतना हलका, बहजाता है, बस आँखों के पानी में॥

इतना चतुर, महाचतुरोंकी चतुराई हरनेवाला,
भयद भयोंको, पर, सन्तोंसे बालक ज्यों डरनेवाला।
बैठा देख रहा ऐकांतिक प्रकृति—नटीके नर्त्तनको,
रिझा रही है वह भी पाकर आज पारखी इस धनको

पञ्चमसे कुछ ऊँची, नीची धैवतसे, अति मधुर मलार,
बहुत दूरकी श्रवण—पुटोंमें पड़ी अचानक मृदु झनकार ।
समा बँधगया प्रकृति-नटीने अपने नूपुर दिये उतार.
शनैः शनैः वह निकट आरही श्रावण-गीत-मयी-झनकार ॥

सोलह—सतरहके भीतरकी, संख्यामें भी इस अनुमान,
मथुराकी वे नवल युवतियाँ वर्षाके बरसातीं गान ।
कनक-लताओंका-सा छाता, अथवा स्वर्ण सरोजनियाँ,
नूतन श्रावण सुमन सूँघने मिल उठ धायीं ये अलियाँ ॥

रेशम रज्जु तिरंगी सुंदर एक सुन्दरीके करमें,
चन्दनमय दोलासन रंजित एक दूसरीके करमें ।
सघन द्रुमोंकी सुंदर कुंजें देख रुकीं वे तुरत वहीं,
देख रहा यह एक कक्षमें, इसकी उनको सुरत नहीं ॥

वे अपनेमें आप मग्न हैं, उन्हें जगतका भान नहीं,
धन पाए हैं, पर न मिली हैं, उन्हें अन्यका ध्यान नहीं ।
लम्बा देखा विटप एक दृढ़ उस पर निज झूला डाला,—
रेशम-डोर-मयी सुन्दर पर आसन रख चन्दन वाला ॥

लगीं झूलने और झुलाने गातीं-गातीं हँस पड़तीं,—
हिः हिः हिः हिः वे विनोदिनी, सुमन-राजि रह-रह झड़ती ।
कुशल मनाती भ्राताओंकी, गीतोंमें ले-लेकर नाम,
और बुलातीं ले जानेको, दिखलानेको माँ का धाम ॥

सांकेतिक शब्दोंमें प्रियको, भेज रहीं संदेश, विदेश
महा-विरहिनी-सी भटकी-सी दरसाती-सी अतिशय क्लेश ।
एक उलहना गाया सुन्दर, जो था नूतन रचित सुगीत,
जिसमें पुरुषोंको ठहराया निष्ठुर शून्य हृदय निष्प्रीत ॥

"सखिरी ! पुरुष प्रीति हम जानी ।
नल-दमयन्तीकी सुन रक्खी कानों करुण-कहानी ॥
रामचन्द्रने तजी कुमुदिनी सीता सती-सयानी ।
हरिश्चंद्रने बेची देखो कैसी शैब्या-रानी ॥
कितने भागे छोड़ बनोंको बननेको ब्रह्म-ज्ञानी ।
देख लिया, री ! बस हमने घनश्याम सरसका पानी ॥
दुर्गति की उन ब्रज-वधुओंकी कह-कह रसकी बानी ।
उभय घरों से खोई जिनको, निकला छल की खानी ॥
राधा रोती फिरती बन-बन आज बनी दीवानी ।
उस कोरे की, शून्य हृदय की प्रीति गई पहचानी ॥"

खरा उलहना सुन कर मोहन निजको लव न सँभाल सके,
ब्रज-वधुओं की दशा याद कर, रोक न मन उत्ताल सके ।
तर-तर करती आँखों से जलधारा बेवश निकल पड़ी,
उर में वृश्चिक-दंशन की-सी एक वेदना हुई कड़ी ॥

'सचमुच उनकी महा दुर्दशा अरे ! हाय ! होती होगी,
कुल-कलंक के पंक सनी प्रत्येक विकल रोती होगी ।
किसका खाना-पीना उनको, किसके जगती के आस्वाद ?
सलिल-विहीना शफरी रे ! वे होंगी शाद-फँसी सविषाद ॥"

हूक एक निकली वेवश हो, उसे किसी विध रोक लिया,
वँधी हिलकियाँ, मानो अब · ही होगा शत-शत खंड हिया ॥
" मुझमें प्रीति लगी उनकी के दुनिया गीत लगी गाने,
मैं कुल-वधुओं का वञ्चक हूँ; सत्य लगा जग वतलाने ॥

वेशक हूं मै छलिया उनका, वे मुझसे हैं छली गई,
वे मेरी सत्प्रीति शिला से कलिकाएँ हैं दली गईं ।
तन, मन, धन, जन, त्रपा उन्होंने तृण-ज्यों मुझपर खेल दिये,
नाना संकट विकट जगत के वोल शीश पर झेल लिये ॥ "

सरस प्रीति की प्रेंखा में वस लगा झूलने मन उनका,
अश्रु-धार ही रज्जु वनी है, भान नहीं स्थलका, तन का ।
गईं युवतियां झूल-झुलाकर, दबी आग यह सुलगाकर,
प्रेम-सिंधु में वहे त्रिवश ये थाह न तीर कहीं पाकर ॥

उद्धव आकर हुए उपस्थित, देखा दृश्य अपूर्व नवीन,
आग लगी है सागर में, आकाश हुआ है शब्द-विहीन ।
अखिल विश्व-उल्लास विषादित, हुआ प्रभाकर तम-आवृत,
मचा घोर भूकम्प भयानक रे ! हिमाद्रि इतना कम्पित ?

" माधव ! माधव ! " माधव ने आवाज़ सुनी तव दृग खोले,
देखा उद्धव-ओर सजल दृग, वचन नहीं कुछ भी बोले ।
" क्यों माधव ! यह आज हुआ क्या तुम्हे अचानक इस वनमें ?
आज कहां की ? कैसी ? किसकी जाग उठी यह स्मृति मन में ?

अथवा कोई और घट गई घटना, सखे ! बताओ तो ?
इस अपने अति आकुल जन का विस्मित कष्ट मिटाओ तो ।
इन आँखों में अश्रु आजतक मैंने देखे थे न कभी,
ये आँसू हैं कैसे जो मैं देख रहा हूँ इन्हें अभी ?"

अश्रु पारावार

"इन जलकी कुछ बूँदों में है मेरा सब संसार सखे !
यह मेरे सर्वस्व विभवका देख रहे हो सार सखे !
यह जो सरस पिरोए मोती इन पलकों के तारों ने,
तरुण सीपियों के उर फट कर बन आये हैं हार सखे !
आग लगी है चन्दन-वनमें, अर्द्ध विकसिता कलियों में,
धूम्र सहित ये उनके रसके छींटे हैं दो चार सखे !
जो चकोरियां चन्द्र विरहिनी चबा चुकीं अंगार घने,
वे निज धर्म-सहित बह आये बनकर जल की धार सखे !
तुम इनको कहते हो आँसू, बेशक सौ-सौ बार कहो,
पर, यह पारावार वही है जिसका वार न पार सखे !

आज हृदय पर मित्र ! गाँव का नकशा है खिंच आया,
परम रसीली उस स्मृति ने ही यह तूफान उठाया ।
घूम रही है अब भी आँखों आगे वह छवि प्यारी,
खोज रहीं कुंजों में मानों मुझे गोपियां सारी ।

हाय ! मित्र ! वे मुझे न पाकर व्याकुल थीं हो जातीं,
मेरे खोने पर वे अपने आपे से खो जातीं।
अब उनकी क्या दशा हो रही होगी वे ही जाने,
मुझ-सा निष्ठुर, शून्य हृदय क्या उनकी गति अनुमाने ? "

रुद्ध हो गया कंठ, दृगों ने अविरल धारा छोड़ी,
प्रेमार्णव ने व्याकुल होकर मर्यादा सब तोड़ी।
" मोहन ! तुमको मोह-गलित यों होते क्या फबता है ?
निपट बालकोंका-सा रोना मुझे कष्ट करता है ॥

तुम क्या हो, कितने हो गहरे, इसे जानता मैं हूं,
तुम्हें पयोनिधि और हिमाचल एक मानता मैं हूं।
उस दिन श्री आचार्य देव के पावन पूज्य पदों में,
विस्मित—से, आचार्य कर दिये, अँगुली रही रदों में ॥

'ईशावास्यमिदं' की व्याख्या जो तुमने दिखलाई,
अपने पन की मोहन ! झाँकी थी उस दिन झलकाई।
तुम 'कठ' को , 'छान्दोग्य', 'केन' को पीये-से रहते थे,
मानो उनके अर्थ तुम्हीं हो, जब उनपर कहते थे ॥

कहाँ पहुँच वह, और कहाँ यह मोह निर्गता धारा,
आभीरोंकी छोकरियों पर ज्ञान गँवाया सारा ?" ।
मानो व्रणमें सुई चुभादी, सुनकर निष्ठुर बाणी,
" यह गर्वित क्या जाने आः वे कैसी हैं कल्याणी ॥ "

बोले—"भाई! कुछ भी कहलो, मुझको वे प्यारी हैं,
मैं हूँ तार महा मीठा तो वे भी इकतारी हैं।
वे मेरी आत्मा की आत्मा, इस तन की मज्जा हैं,
वे मुझ वसन बिना नंगी हैं, पगली, निर्लज्जा हैं॥

सखे! अखिल भव-भोग विमल वा इष्ट-मित्र जन सारे,
उन मिश्रीकी डलियों आगे मुझको लगते खारे।"
सुनकर उद्धवकी आँखोंमें भाव दूसरा छाया,
और हृदयमें पक्षपातका उन पर दोष लगाया॥

जान गये श्रीकृष्ण, हृदय की गुप्त भावना काली,
मकरालय से छिप सकती क्या मकर-चाल छलवाली?
हँस कर बोले—"बंधु! तुम्हें मैं बहुत-बहुत प्यारा हूं
प्रेम-खेल में तुम जीते, मैं बार-बार हारा हूं॥

तुम-सा बेशक मेरा कोई मित्र न अन्य कहीं है,
मेरी और तुम्हारी मैत्री निश्छल, अचल रही है।
तुम हो मेरे प्राण, इसीसे आज कार्य लेता हूं,
प्रियवर उद्धव! आज तुम्हें निज प्रतिनिधित्व देता हूं॥

सखे! सिधारो कल गोकुल को, रथ मेरा ले जाओ,
माता जी को और गोपियों को धीरज दे आओ।
तड़प रही हैं वे मछली-सी सिसक रहीं जल-हीना,
उन्हें ज्ञान दे समझा देना, रहें न मोहाधीना॥

तुम खुद ज्ञानी हो, पंडित हो, उन्हें बोध बहु देना,
विरहानल से उन्हें बचा कर महा पुण्य यह लेना।
मुझे भरोसा पूर्ण तुम्हारा, तुम यह सब कर लोगे,
विविध युक्तियों-द्वारा उनको शांत-सुखी कर दोगे॥"

"हृषीकेश! मैं इस अनुमति को तन-मनसे पालूँगा,
कह न सकूँ यह, मोह-महोदधि शोषण कर डालूँगा।
पर, इन चरणों की अनुकम्पा है मुझ पर अति भारी,
बनूँ कदाचित् इसी लिये मैं उनका संकट-हारी॥

और नहीं तो, इस मिस उनके दर्शन तो कर लूँगा,
परम पूत उस दुर्लभ रज का स्पर्शन तो कर लूँगा।
जिसके मधुर स्वाद ने तुमको ऊखल से बँधवाया,
जिसके कण ने अखिल-लोक का महावृक्ष उपजाया॥

परम लाभ यह माताजी के दर्शन कर आऊँगा,
अनायास ही शत तीर्थों का फल तो पा जाऊँगा।
अमित उलहने जिसको तुमने घर-घर से भिजवाये,
जिसके स्निग्ध-करों से तुमने चपत गाल पर खाये॥

उस पूज्या के मैं भी कुछ दिन चरणों चिपट रहूँगा,
उसके जीकी व्यथा सुनूँगा, अपनी उसे कहूँगा।"
साँझ हुई, चल पड़े भवन को, इस विध बातें करते,
गहे हाथ में हाथ परस्पर, उर उमंग से भरते॥

रात हुई, सब जग सोया है काली चादर ताने,
ये बतलानेमें तत्पर हैं, उलझीको सुलझाने ।
बीती अर्द्ध निशासे ऊपर मंदिर-छत पर बैठे,
कृष्णचन्द्र संदेश कह रहे तन्मयतामें पैठे—

"यद्यपि मैं अब सरस कलेवे, कलाकन्द खाता हूँ,
पता नहीं, क्यों वहां सरीखे स्वाद न अब पाता हूँ।
जब जाता हूँ भोजन-घरमें माँकी याद सताती,
स्नेहमयी वह मूर्ति सामने झटपट है आजाती ॥

सरस सद्य नवनीत कहां वह सिता-सहित सित निर्मल ?
सौ मनुहारों-साथ खिलाना मातृ-करोंका पलपल ।
अवगुण भी गुण जहां गिने जाते थे मेरे सारे,
मेरे सब ही ऐब लगा करते थे माँको प्यारे ॥

भीतरसे फूली न समाती, ऊपरसे धमकाती,
सखे! जगतमें दूजी किसकी होगी माँ-सी छाती ?
माँका उर मीठोंसे मीठा, शत शीतोंसे शीतल,
सौ स्नेहोंसे स्निग्ध और वह कोमलतासे कोमल ॥

माँका ऋण है इतना मुझ पर, जो न कभी उतरेगा,
लहू पिया है सता-सताकर, बदला भला भरेगा ?
मुझ-सा निष्ठुर निपट ऊधमी है उसने ही पाला,
सब ठेसोंसे बचा-बचाकर, करतल का-सा छाला ॥

इस तनकी चमड़ीके जूते यदि माँको पहना दूँ,
शत-शत जन्मोंमें भी क्या मैं उसका कुछ बदला दूँ ?
जो सुत किंचित् सेवा करके माँसे उऋण समझते,
और अधिक वे पापी बनते, हैं कृतघ्नता करते ॥

उद्धव ! कहना माँसे माता ! खोटा बेटा तेरा,
पछता-पछता अब रोता है दिया कष्ट बहुतेरा ।
सेवाका जब अवसर आया पीठ दिखाकर भागा,
है कृतघ्न ही मान रहा वह, निजको निपट अभागा ॥

उद्धव ! कहना, मेरी कजरी-कारी कष्ट न पाएँ,
और ! जिन्होंने सुर-दुर्लभ हैं मुझको भोग खिलाए ।
सखे ! स्वयं तुम हाथ फेरना उस मेरी धोली पर,
समुत्कर्ण हो हुँसरा करती जो मेरी बोली पर ॥

उस मेरी कपिला के उद्धव ! दर्शन करके आना,
ब्रह्मचारिणी थी वह तो बस, उसका तापस-बाना ।
अमित धूमरी-धूसरियों की छटा विपिन में लखना,
उन्हें जान कर मेरी पूज्या, नमस्कार तुम करना ॥

उनके मृदुतन अल्पआयु शिशु, सरल, चपल, अति प्यारे,
मनमानी चौकड़ियां भरते होंगे थम-थम सारे ।
जब वे बंदी बनें साँझ को, उन्हें प्यार तुम करना,
उज्ज्वल-रद उन दूध-मुँहों को चूम, मोद उर भरना ॥

सिर पर उनके हाथ फेर, पुचकार प्यार दरसाना,
सच मानो हे उद्धव ! होगा सफल तुम्हारा जाना ।
जिसकी ध्वनि थी प्रस्तर-द्रावी, पड़ी मूक वह होगी,
जिसमें मेरे प्राण विचरते, था मैं जिसका भोगी ॥

माँसे रक्षित उस वंशी को तुम्ही माँग कर लेना,
उद्धव ! उसमें एक फूँक दे, प्राण-दान तो देना ।
जिसके सुमधुर स्वर कानों में गूँज रहे हैं जिनके,
जिस ध्वनि-सरिता में जल होकर प्राण वहे हैं जिनके ॥

संभव है, वे उस ध्वनि को पहचान मृगी-सी धाएँ,
मुझे जान कर आया, उनके प्राण लौट-से आएँ ।
उन धन्याओं को हे पंडित ! मृदु आश्वासन देना,
कर निराश पहले ही, उनके ऊष्ण श्वास मत लेना ॥

कहना, क्षण भी कान्ह तुम्हें विसरा न कभी विसरेगा,
यह नव निर्मल प्रेम तुम्हारा उर से भी उतरेगा ?
तुमको अपनी मान एक ही परमासक्त अनन्या,
हृदय-वासिनी, बाल संगिनी, प्रेम-रंगिणी धन्या ॥

यह संदेश दिला भेजा है, इसमें सब कुछ जानो,
इस पद्धति से अपने आपे में प्रियवर पहचानो—
"मैं हूं तुममें, तुम मुझमें हो जल-तरंग की नाईं,
रम जाओ तुम आत्म-आत्म में कीट-भृंग कीं नाईं ॥

मुझे निरवयव निरा समझकर अंगासक्ति बिसारो,
तुम भी योषा-भाव न निज में तीन काल में धारो।
अखिल विश्व में मुझको देखो, क्या जड़ में, चेतन में,
मैं झलकूँगा सहज तुम्हारे निर्मल मन-दर्पन में ॥

बहिर न भटको, भीतर टिक कर, एकमेक हो जाओ,
मुझे न खोजो बाहर, तुम खुद बाहरसे खो जाओ।
अखिल विश्व-आधार मुझे तुम अपनेमें पाओगी,
देखोगी यदि वह झाँकी तो भूल इसे जाओगी ॥

रास—विलासोंको मत भटको, वंशी के स्वर भूलो,
प्राणि मात्र की सेवा की शुचि प्रेंखा में अब झूलो।
दीन—दरिद्रों की देहों को मेरा मंदिर मानो,
उनकी आर्त्त उसाँसों में ही वंशीके स्वर जानो ॥

उन्हें रिझाओ, उन्हें खिलाओ, उन्हें सौख्य पहुँचाओ,
मुझसे मिलना है तो सीधे इसी मार्ग से आओ।"
सुधा-वर्षिणी शुभ्र ज्योत्स्ना निज सिर पटक रही है,
इस बाणी की समता करनेको वह भटक रही है ॥

दबे पाँव शर्वरी—नाथ भी चढ़े चले आते हैं,
अपने में यह बात न पाकर सँकुचे-से जाते हैं।
उद्धव बोले—' कमलेक्षण ! यह देखो तो, चढ़ आया,
कुमुद—बंधुवर कितना ऊँचा, श्रमित अमित अलसाया ॥

पर, ये शतदल सरस रहे हैं ज्यों के त्यों रस–भीने,
हुए न किंचित् निद्रित–भी ये, तन्मय रस को पीने। ”
बोल उठा इतने में कुक्कुट ‘कुक्कूकू’ प्लुत स्वर में,
चलती चक्की पड़ी सुनाई किसी श्रमी के घरमें ॥

कफ—रोधित—गल एक वृद्ध ने सरस प्रभाती गाई,
एक कक्ष शिशु–रोदन की ध्वनि झीनी पड़ी सुनाई।
लगे छनकने बालाओंके कंकण, जलको भरते,
उनके हाथों चकित होकर कूप चींख ध्वनि करते ॥

ऊषा ने भी साड़ी बदली, पति की अगवानी में,
सचव निशा हो गई· लीन छवि धोई—सी पानी में।
बोले तब श्रीकृष्ण सखासे—“उद्धव! हुआ सबेरा,
रहा शेष संदेश और भी कहना तो बहुतेरा ॥

पर, अब शौच—स्नान आदि कर झट प्रस्तुत हो जाओ,
मित्रवर्य! अब व्रज में जाकर ज्ञान—बीज बोआओ।
ये परोक्ष, अपरोक्ष–से, ज्ञान, धरे सुशरीर।
प्रातर्वेला जान कर, उठे युगल मतिधीर ॥



चतुर्थ अंग

उद्धव दूत

तू उनकी लिख सकती कैसे करुण-कथा कसकीली ?
सहज-सिसकती, कलित कली-सी झुलसी, विरह-रसीली ?
अरी लेखनी ! लोहमयी तू निष्ठुर, निष्पीड़ा है,
व्रज—वधुओं की पीड़ा लिखना हास्यमयी व्रीड़ा है ॥

तू पुरुषोत्तम—संयुक्ता है, वे थीं हाय ! वियुक्ता,
वे कुल-साँकल में बद्धा थीं, तू कुल—कानि—विमुक्ता ।
वे अक्षर को भटक रही थीं, तू है पीठ दिखाती,
तेरा तो मुँह फटा हुआ है, हा ! उनकी थी छाती ॥

तू पीती है श्याम सलिल पल—पल में अति मचली-सी,
वे थीं श्याम-सलिल की प्यासीं व्याकुल नित मछली-सी ।
तू कागज पर नर्त्तन करती, ले तानें, दे तालें,
वे अपने नचने पर रोतीं, याद न टलती टालें ॥

तू चलती है अपने साथ बनाती काली लेखा,
अरी लेखनी ! तजी उन्होंने कुलकी पावन रेखा ।
तेरी उनकी गति—विधि में री ! एक महानन्तर है,
फिर तू उनके चित्र खींचने को इतनी तत्पर है ?

माँग उन्हीं से उनकी पीड़ा सुध बुध खोनेवाली,
हँसनेवाली ! तुझे रुला वे देंगी रोनेवाली ।
तभी कदाचित् किंचित् तू लिख पाए आर्द्र कहानी,
तू पानी बन, बन जाएँगे सहृदय पानी—पानी ॥

*　　*　　*

सजा-सजाया खड़ा द्वार पर यान सजीला,
स्वर्णचूड़ पर फहराता शुभ केतु फबीला।
चन्दन का सब ठाठ, सुघड़ रथ रजत प्रबंधी,
स्वर्ण–सुकीलों जटित, प्रभा-कर-आभा मंदी ॥

हरित, पीत, नव नील, अरुण, सित माणिक-माला,
जगमग-जगमग ज्योति जग रही, दीप्ति विशाला।
महा पुष्ट, अति चपल, नभस्वत्-मान-विमर्दक,
उच्च श्रोत्र हय, हेषा करते, मोद-विवर्द्धक ॥

प्रस्तुत रथ को जान सखा-सह माधव आए,
संदेशों में निरत, विमुद-मुद-भावों छाए।
नर-नारी यह दृश्य देख कर अति अकुलाए,
"आज अचानक कहां अरे! घनश्याम सिधाए?"

एक दूसरे से रहस्य यह पूछ रहा है,
सुनने-हेतु समुत्सुक जन-जन हुआ महा है।
बोले फिर श्रीकृष्ण–"सारथे! यान बढ़ाओ,
हम आते है, नगर–द्वार पर रथ ठहराओ ॥"

यान गया तत्काल पवन गतिसे पुर–द्वारे,
चले इधर गोविन्द-सहित जन पैदल सारे।
व्रज की करते बात परस्पर, रस बरसाते,
निज प्रतिनिधि को हृदय सौंपते–से दरसाते ॥

सुमन पवन को सुरभि सौंपते-से दरसाए,
हरिका गमन न जान, प्राण लोगों में आए।
नगर-द्वार पर गये जहाँ रथ खड़ा हुआ था,
रथ पथरों से रथी वज्र से, मढ़ा हुआ था ॥

स्वयं श्याम ने अपने हाथों निज वनमाला,
पहनाई प्रिय उद्धव के गल, सजा निराला।
पीताम्बर को ठीक किया फिर अपने ढँग से,
हृदय रँगोगे कैसे उसका अपने रँग से ?

कहा—"मित्र! रथ चढ़ो, विभाकर-रथ चढ़ आया"
उद्धवने झट हाथ जोड़ चरणों सिर नाया।
"उद्धव, माँ के पावन पूज्य पदों में मेरा"—
रुका कंठ, जल दृगों बहा, रोका बहुतेरा ॥

पीताम्बर से पोंछ कहा—" पालागन करना,
भक्ति-भाव से पूज्य बबा के चरणों गिरना।
मेरे साथी गोप-वृन्द को प्रेम बताना,
गुरुजन कोई मिलें, उन्हें तुम शीश नवाना ॥

गोपी कोई मिले प्रथम तुम ही झुक जाना,
तुम हो मेरी ठौर, भाव दूजा न दिखाना।
मैंने सब से कहा, एक से कहा न जाता,
उसे कहूँ क्या? शब्द न कोई भी तो पाता॥"

खड़े रह गये ध्यान-स्थित भगवान भाव में,
भरा नीर ज्यों वेगवती चलती सुनाव में।
पंकज युग जल-मग्न, सुपल्लव काँप रहे हैं,
सलिल-डोर से प्रेम-कूप को माप रहे हैं॥

कुछ क्षण में दृग खोल कहा "प्रस्थान कीजिये,
मित्रवर्य, अब सत्वर चलता यान कीजिए।
उद्धव पा आदेश चढ़ा रथ में अकुलाते,
हरि के हित-कर चरण न क्षणभर त्यागे जाते॥

निकल गया रथ दृष्टि खींचता, क्षितिज चीरता,
लौटे सब के साथ कृष्ण, ले उर अधीरता।
वन की शोभा निरख पावसी, उद्धव भूले,
नैसर्गिक नव दृश्य देख बहु भावों झूले॥

रथ की गति कर मंद छटा आँखों में भरते,
चलते, चिन्तन चारु चित्त पर चित्रण करते।
खेतों में मृदु हरित बाजरा लहराता है,
किंचित् झोंका पा मारुत का झुक जाता है॥

पथ के दोनों पार्श्व दूर तक है हरियाली,
बेलें कुछ-कुछ पसर रही हैं फूलोंवाली।
गोचर में हैं कहीं चराते गौएँ पाली,
छींके कंधे, यष्टि हाथ में बाँक-बँकाली॥

आशा-लिप्सा किंचित् भी जग की न हृदय में,
हैं अपने में मस्त, न पर के चय-अपचय में।
जब उठती है लहर कान के हाथ लगा कर,
दिलकी खुजली मिटा लिया करते कुछ गाकर ॥

दो-दो रोटी सब के पल्ले बँधी हुई हैं,
ठौर-ठौर पर लघु तलाइयाँ भरी हुई हैं।
नभ से बरसे हुए विमल उस मधुर क्षीर की,
अनुपम सुषमा है सदूर्व उस मेघ-नीर की ॥

ठौर-ठौर पर पथ में निर्मल जल लहराता,
विना प्यास ही पीने को है जी ललचाता।
कहीं—कहीं उन खेतोंमें केकी अति प्यारा—
वन को करता ध्वनित, लगा कर निज बल सारा ॥

उड़ती कीर-कतार कलित रथ पर से जाती,
उसकी 'कीं, कीं, कीं, कीं' की ध्वनि मनको भाती।
उस नीले नभ तले हरितिमा उनकी सोही,
सावन-नृप सपताक चढ़ा रे! वन व्रज-द्रोही ॥

सहज सरल, मृदु अंग, विपुल दृग, मृग का छोना,
खड़ा सुन रहा रथकी ध्वनि का टन्-टन्-टोना।
हेमवर्ण-मय हरिण चर रहे सहज फबीले,
विपुल विलोचन, चञ्चल, चिक्कन, चारु, लचीले ॥

रथ की ध्वनि सुन, चरना तज सिर ऊँचा करते,
फिर चरने में निरत, न कुछ भी भय उर भरते।
जान गये वे, "यह न मृगोंके लिये व्याध है,
इसके मन में मृग-हितैषिणी एक साध है॥

जिनके दीर्घ दृगों ने हैं मद हरे हमारे,
उन मृगाक्षियों पर इसके शर चढ़े करारे।"
चला जा रहा सहज प्रगति से रथ ऊधोका,
तरुण शफरियों पर पटु धीमर की-सी नौका॥

दीख पड़ा कुछ दूर ग्राम का दृश्य निराला,
शोभित तरुओं-बीच गृहोंका रँग मटियाला।
हैं सब कच्चे भवन, हवेली एक नंद की,
उठी यहीं से वंशी-ध्वनि थी परमानँद की॥

गये द्वार पर, उद्धव उतरे शीघ्र यान से,
ग्राम-स्थलि को नमन किया अत्यन्त मान से।
रथको आया देख प्राण-से मुड़े ग्रामके,
जन थे तृषित नितान्त शान्ति-प्रद सलिल श्यामके॥

लखा न अपना हाय! साँसको मार रह गये,
निपट निराशा-नदी बीच वे पुनः बह गये।
उद्धव ने देखा, न किसीके हृदय चाव है,
जन-जनके उर घोर विरहका एक घाव है॥

गये नंदके भवन, लुटा-सा पड़ा खजाना,
धार रखा था विरही घरने दुख का बाना।
विरह रूप हो रहे सकल परमाणु वहां के,
उगल रहे थे हिवड़े वाष्प—कृशानु वहां के॥

अन्तर धकती अनल निरन्तर जो अरणी-सी
गति-विहीन, जल-हीन पड़ी तट की तरणी-सी।
ली ऊधो ने जान यही उस फल की बेली,
जिसे पोष यह हुई जगत में धन्य अकेली॥

विवश झुक गया शीश पदो में विनय-भावसे,
मिला वही फल, जिसके हित था चला चावसे।
लखा यशोदाने किशोर नत निज चरणों में,
भासा श्याम-समान वसन में आभरणों में॥

लिया हृदय से लगा स्नेह में सनी हुई ने,
निज हीरा-सा जान, खानि इस खनी हुई ने।
निज सुत-तन सी सुरभि सहज वसनों में आई,
सुत वियोगकी वह्नि-शिखा, तन-मनमें छाई॥

जिसके पयसे बना देह, उसकी सुगंध को—
कैसे बिसरें प्राण, अरे! उस निज निबंध को?
हुआ स्पर्श जब पीताम्बर का, वनमाला का,
वेग बढ़ चला अधिक, और भी उर-ज्वाला का॥

छोड़ दिया मुँह, 'हू-हू' करके माता रोई,
मानों पथ में पथिक लुट गया बेवश कोई।
घर भर हुआ प्रवाहित जब यह आया रेला,
उद्धव सके सँभाल न अपने को उस बेला॥

मूर्तिमान है कृष्ण-विरह · उद्धव ने जाना,
समुचित समझा समझाना तब अपना आना।
"माँ! मैं अनुचर माधवका भेजा हूँ आया,
प्रेमाकुल हो उसने मुझको यहाँ पठाया॥

सब विधि माधव मुदित, सुखित हैं, तन, मन, धनसे,
विद्या, बलसे, यश, वैभवसे, निजजन गणसे।
पुनः पुनःरी! प्रेम-प्रणति माँ! मैं करता हूँ—
कृष्ण-ओरसे अरी! हृदयमें मैं डरता हूँ॥

होकर विह्वल-विकल कृष्णही मानो आया—
सूक्ष्म देह में—प्रेम न उद्धव-हृदय समाया।
लोट गया चरणोंमें माँ के रोता-रोता,
बिछुड़ा बालक माँ पाकर ज्यों हिक्कित होता॥

कृष्ण-सरीखा मिलन यशोदा ने भरपाया,
हृदय होगया शान्त, साथही शीतल काया।
पुचकारा अति स्नेह-साथ आसन बैठाया,
उद्धवने सब नाम-धाम अपना बतलाया॥

मातृ स्नेह

माता अतिशय मुदित हुई, सुन उद्धव का यों आना,
फिर-फिर पूछा-"उद्धव ! मेरा राजी तो था कान्हा ?
साँस मार चुप हुई, दृगोंने छोड़ी अविरल धारा,
आँखों आगे खड़ा होगया, बाल चरित वह सारा ॥

मानो अब भी देख रही है, रह-रह वहीं मचलना,
उन अति काले विशद दृगोंका मचलन-साथ छलकना।
लघु रसनासे, प्रियवचनोंमें तुतलाते कुछ कहना,
"आह ! वही था बस इस मेरे सूने वरका गहना ॥

उद्धव, यह मैं जान रही हूँ, कर्मोंके फल पाए,
गर्वित होकर मैंने कितने माँ के स्वाँग दिखाये।
मैं अपना ही समझ हाय रे ! उसको मुँह न लगाया,
बात-बातमें पीटा, बाँधा, मारा और रुलाया ॥

मैंने क्यों पर-जाये पर ये जलने हाथ उठाये ?
आखिर काकी काकी ही है, पर-भृत परभृत—जाए।
उद्धव मुझको खेद यही है, मैंने उसे सताया,
एक धाय के नाते रे ! रे ! कितना नाच नचाया !

अब वह समझ गया सब मेरी पिछली करतूतों को,
माँ-सम पाला नहीं हाय रे ! मैंने पर-पूतों को।
बेटा ! अब मैं पछता-पछता रोती ही रहती हूँ,
स्नेह-शल्यसे विंधे प्राण ले, पीड़ा को सहती हूँ ॥

नृप-कुमार कब धाय-दूध पी, उसे याद करता है—
मातृ-भावसे, जब वह राज्यासन पर जा जँचता है?
क्या आश्चर्य मुझे जो भूला जाकर वह मथुरामें,
मुझमें प्रीति भला वह क्यों हो, जो हो असली माँ में?॥ ”

रुद्ध होगया कंठ, हृदय को विरह जलाने आया,
उससे पहले नेत्र मार्ग से, हृदय पिघलकर धाया।
रोती-रोती बोली-“ उद्धव, कभी याद करता है?
इस अभागिनीको भी क्या वह रसना पर धरता है?

माँके इस अति भोलेपन पर उद्धव डगमग डोले,
स्नेह-सरितमें बहती माँ से सुधा-सिक्त स्वर बोले।
‘ माँ! तुम तो अति सरला-सीधी अरी! निपट भोली हो,
परम स्नेह में बहकी हो तुम, जो कुछ भी बोली हो॥

सच है वर्द्धित वेग मात्र ही अंधा कर देता है,
यह आपत्यिक स्नेह और भी सुध-बुध हर लेता है।
“ माता, जैसा सोच रही तुम, कृष्ण नहीं है वैसा,
सहृदय, सदय, कृतज्ञ न कोई जगती में उस जैसा॥

प्रेम-शुक्ति पर वह न्योछावर होनेवाला मोती,
कहीं खोजने पर न मिलेगा उसके गुणका गोती।
अरी! तुम्हारे स्तन्य-सुधासे वह जो पुष्ट हुआ है,
सच मानो माँ, यह जगती-तल उससे तुष्ट हुआ है॥

वह कितना-कुछ ऋणी बना है पीकर दूध तुम्हारा,
तुम यदि एक तुला में बैठो, दूजेमें जग सारा।
खाली-सा उठ जाए पलड़ा, तुलते साथ तुम्हारे,
उसके साँस तुम्हारे ही गुण गाते आते सारे॥

जब आती है याद तुम्हारी रोने लग जाता है,
चार वर्षके बालक-सा वह व्याकुल दिखलाता है।
ग्रास-ग्रासमें माताका गुण-गान किया करता है,
अरी! नीर की ठौर धीर वह अश्रु पिया करता है॥

कितना पुलकित होता है सुन नाम 'यशोदा-नंदन'!
स्मित-मिस सुमन बिखेरा करता, कर कुछ अधर-स्पन्दन।
चावोंमें आजाता है बस, प्रेम न हृदय समाता,
जाने फिर क्या सोच, दृगोंमें जलके कण भर लाता॥

सच मानो माँ, दूध तुम्हारा जगती का भूषण है,
हुआ तुम्हारा सुयश-चन्द्र भी, अनुपम अविदूषण है।
विश्व-वंद्य वह माता, जिसका सुत हो पर-दुख-हारी,
काटे बंधन वन्दी-गणके सह सिर संकट भारी॥

बँध कर स्वयं छुड़ाए परको, मर कर और जिलाए,
ऐसे कितनी माताओंने पुत्र जगतमें पाए?
जब संसार करेगा ऐसी माताओंकी गणना,
जन-जनकी तब पावन होनेको उत्सुक हों रसना॥

बोल उठेंगी सहसा सारी सादर, नाम 'यशोदा',
नानाजीका रखा नाम यह सार्थक हुआ यशो-दा ।
उसके छोटे-मोटे जितने कर्म, लिये कुछ रहते,
दृग उसके गंभीर भावसे मदिर, पिये कुछ रहते ॥

मानो उसको जगती-तल में कर्म बहुत करना है,
मानो वसुधा की छाती का दूभर क्षत भरना है ।
उसकी मति की, अतुल शक्ति की सीमा बाँध न पाते,
विश्व-विदित विद्वान् बली सब अँगुली काटे खाते ॥

जिनको करना महाकर्म वे निगडित कब रहते हैं ?
स्वार्थ-श्रृंखला तोड़ वीर वे सागर-ज्यों बहते हैं ।
माता, तुम अपने को समझो धन्य, श्याम सुत पाया,
जो वसुधा-का भार हरण-हित दया-द्रवित हो आया ॥

वह सागर इस व्रजके बंधनमें न भले अब आये,
उसने बद्ध जनों के मोक्षण को निज नेत्र उठाये ।
उसके कर्म महान देखकर अपने भाग्य सराहो,
सुयश-सिंधु में री माँ, अब तुम मोद-मयी अवगाहो ॥"

" उद्धव, तुमने कहा उसे मैं सुनकर हूँ सुखपाई,
सुधा-सिक्त इस वाणीसे कुछ छाती है शितलाई ।
पर, यह माँके दग्ध प्राण रे उद्धव ! नहीं बुझेंगे,
शत-शत कलश सुधाके औंधो, दझते, दझे, दझेंगे ॥

उसके पल—पलके विनोद उर—प्रस्तर पर लीके हैं,
अंध प्राण ये उनको छू-छू रोते हो फीके हैं।
बहुत-बहुत विरमाती इनको कह-कह कथा पुरानी,
'ना, ना, ना,' ये कह, रो देते, 'पूर्ण न होगी हानी' ॥

अब इस जलने घर में उद्धव, जी न कहीं लगता है,
एक-एक प्रिय बोल पुत्र का, प्राणोंको ठगता है।
अरे! एक भी बालक ब्रजका इस अँधियारे घरमें,
आज भूल कर भी न झाँकता, ले कुछ दुखड़ा उरमें ॥

वही 'मनोहर' 'शांतू' 'कान्तू' 'श्रीदामा' थे आते,
मेरी लाख लताड़ें भी सुन, घर न छोड़ कर जाते।
अब अभागिनी एकाकी उपली-सी सिलग रही है,
सब कुछ होकर गोकुल में रे! कुछ भी आज नहीं है ॥

बेटा, ब्रज की दशा देखियो, मुझसे कही न जाती,"
इतना कहकर छलक पड़े दृग, उझल चली बस छाती।
इतने में सूखा करील-सा व्यक्ति एक घर आया,
रोम-रोम रोता है जिसका बन दुःखोंकी काया ॥

शुष्कनीर सरवर के तल-सा गात्र सलवटों—छाया,
असमय में ही कुटिल ग्रीष्मने जिसको हाय! सुखाया।
श्मश्रु—जाल का छोड़ दिया है वर्षों से सुलझाना,
हैं गृहस्थ, पर, भास रहा प्रति रोम विरति का बाना ॥

उरकी अतिशय विषम वेदना आँखों झाँक रही है,
साथ-साथ गहराई भी उर—कीमत आँक रही है।
उनके तनका रोम—रोम है, यही वेदना गाता,
'जो दुखको पीजाता उसको दुख भी है पीजाता॥'

उद्धवने पहचान लिया, यह धीर वही बड़भागी,
जलती ज्वालाओंमें जिसने टेक न अपनी त्यागी।
विषम कालमें जिसने घोर हलाहल हा! झेला था,
तूफानों में पड़ कर जो नर प्राणों पर खेला था॥

पराधीन, धनहीन, निगड़-धन, दिन बिगड़े साथीका,
यही बना था सच्चा साथी, कीच-फँसे हाथीका।
पूज्य भावना, श्रद्धा का बस वेग उमड़ उर आया,
उद्धवने झट उठकर उनके चरणोंमें सिर नाया॥

गोकुल-पतिने उठा स्नेहसे छातीसे लिपटाया,
साथ दृगोंमें उरमें, तनमें, रोमोंमें सुख छाया।
उद्धव-स्पर्शित उनके मूर्छित प्राण तथा सरसाए,
यथा तृषित जन सजल पवनको परस परम सुख पाए॥

बैठा कर निज निकट, लगे वे उद्धवसे बतलाने,
वृष्णि-वंशके सुनकर सुख-संवाद लगे हर्षाने।
बार-बार गम्भीर भावसे, पय-से पावन मनसे,
स्नेह-सनी वाणीसे पूछा, भर लोचन कुछ जलसे॥

"कान्हा तो सब भाँति सुखी था ?" 'हां' 'हैं कष्ट वहाँ क्या ?'
बोले—"उसके योग्य भोग हैं मेरे पास यहाँ क्या ?
उसके सुखमें हमको सुख है," आगे बढ़ी न बाणी,
उरका सब इतिहास बहा कर ले आया दृग-पानी ॥

उद्धव बोला-'यदपि वहाँ पर सकल भोग-साधन हैं,
स्वजन, अमित धन, विविध भवन वर, अशन-वसन वाहन हैं।
पर, सच मानो तात! न वह है तृप्ति यहाँ-सी पाता,
तुम दोनोंका स्नेह याद कर आँखें है भर लाता ॥

अधिक कहूँ क्या मातृ-पदोंमें रख सब कथा चुका हूँ,
लख विवेकका सागर सम्मुख, परिमित बोल रुका हूँ।
गुरुवर धीर जनोंके सम्मुख वाक्-चातुरी रचना,
मलयाचलके अर्चनको है चन्दन कुचल चरचना ॥

उसने जिस विधिसे प्रणाम इन पावन पदों दिया है,
वह इस निष्ठुर पास कहाँ विधि, वैसा कहाँ हिया है ?"
उद्धवके मानस की भाषा आँखोंमें आ भासी,
हुई नंदके उर अंकित वह विद्युत की आभा-सी ॥

बोले तब नँदराय, "भले तुम उद्धव, यहां पधारे,
सच जानो तुम हमको लगते वत्स! श्याम-से प्यारे।"
जैसे बरगद विटप तले नव सरस गुलाब सुकुसुमित,
झोंकोंसे झुकता है, वैसे उद्धव हुए प्रदर्शित ॥

* * * *

विरह-वारिधि

सायं देख समीप, कर्म-हित ली उद्धव ने अनुमति,
' हाँ, यमुना हो आओ, बेशक ' बोले प्रमुदित व्रज-पति ।
दिया संगमें भृत्य एक, ले, उद्धव घर से निकले,
चले देखते करुण-दृश्य वे, काल-चक्र के कुचले ॥

विरह-वारिसे गलित हुई उन गोकुलकी गलियोंको,
सुमन-विहीना, शोक-विषण्णा, ध्वनि-हीना अलियोंको ।
विगत आभ, उन दाभ उगे छत, विना लिपे भवनों को,
विरह-पीत, पिताभवदन, उन श्याम-सखा-सुमनों को ॥

वर्षों से ही विना सँभाले, घर-घर पटह टँके हैं,
जिन पर लूता-तन्तु तने हैं, तन पर घाव अँके हैं ।
वे विषाण जो नभ को भेदन करते थे निज स्वरसे,
आज अधोमुख, खूँटी लटके, हैं नीरव निज-पर से ॥

वे मृदंग जो तनिक थाप से कम्पाते थे नभ को,
पड़े दुर्दशा से वे उतरे, आज रुलाते सब को ।
मंजीरों की मुखर जोड़िया जो थीं रस बरसातीं,
आज उन्हीं में निर्भय होकर पड़ी मकड़ियाँ ब्यातीं ॥

जिन विपंचियोंकी तानें सुन सुरियां शीश डुलातीं,
आज उन्हींके बैठ शिरोंपर चुहियाँ कलह मचातीं ।
गेह-पोलियोंमें यों देखे चढ़े हुए सागरके—
शुष्क चिन्ह, तब शुष्क हो गये अधर, मुखर नागरके ॥

तरणि-सुताके तट जाकर, हो शौच-स्नानसे निवृत्त,
ध्यानासीन हुए, पर, मन है अमित विचारों-आवृत ।
"ब्रजमें रे! ब्रज-राज-विरह का वारिधि एक चढ़ा है,
जो अकूल है, अतल, अतुल है, सुध-तट तोड़ बढ़ा है ॥

चेतनकी तो कहे कौन जड़ भरते साँस यहाँ हैं,
दूब, मोथियोंकी गणना क्या? डूबे बाँस यहाँ हैं ।
अस्तु, करूँगा मैं भी अपने यत्न शक्तिभर सारे,
यह सांदीपन का न शिष्य है, लाज लगेगी हारे ॥

जो अधीत दर्शन है उसको अगम बात ही क्या है?
जो सम्मुख है सदा सूर्यके, उसे रात ही क्या है?"
उद्धवके औंधे विचार ये एक-एक सुनता है,
हंस-सुताका मलिन हुआ जल जाता सिर धुनता है ॥

तटके पथरोंपर यमुना सिर पटक-पटक रोती है,
जिसे देखकर करुणा भी खुद करुणा-वश होती है ।
तटके तरु सब शीश हिलाकर उद्धवको नटते हैं,
तेरी सीख न हम मानेंगे, कह, रो-रो फटते हैं ॥

अस्ताचलको गया सूर्य निज दुहिताको समझाता,
निज कर-मालाको तनयाके तनसे कुछ परसाता ।
कृष्णाके उस असित सलिलमें अरुणाभा यों छाई,
मानो चिन्ताकी रेखा पर आशाकी अरुणाई ॥

यमुना-तटके तरु-शिखरोंपर यों भासी रवि-लाली,
मानो सुता-सुतोंके सिरपर कर धरता कर-माली ।
निज निज नीड़ोंमें विहंग सब कुछ कहते-से आते,
रोते-धोते, बकते-से कुछ व्याकुल-से दिखलाते ॥

उद्धव देख रहा निज आँखों संध्याको रोती-सी,
लखी घूमती आती घायल रात्रि प्राण खोती-सी ।
विविध विचारोंमें उलझा ही उद्धव घरको आया,
'मध्य धार तो दूर अभी रे! तटका थाह न पाया!'

स्वयं यशोदाने प्रस्तुत कर भोजन करों-परोसा,
नाना रस-मय वचनोंसे, ममतासे, सुत–सम तोषा ।
उद्धव तुष्ट हुआ माँ—करसे सात्विक भोजन पाकर,
"सच है, कौन नहीं भटकेगा इस गोकुलमें आकर?"

माधवका शिशु-भाँति बिलखना अब उद्धवने जाना,
अनायास यह अवसर पाकर जन्म सफल निज माना ।
बहुत रात बीते तक माता उद्धव से बतलाई,
शैशव की उत्पात-भरी सुत—बातें बहुत सुनाई ॥

कभी आँख भर लातीं और कभी खड़-खड़ हँस पड़तीं,
क्षण-क्षणमें दुख-सुखकी दो सरिताएँ साथ उमड़तीं ।
इसी कालमें उद्धव को वह वंशी की सुध आई,
माधवने जो संदेशों की आद्या हेतु बताई ॥

उद्धव बोला—"अरी ! मुझे वह वंशी तो दिखलाना,
जिसकी ध्वनिमें मादकता थी, रस बरसाता कान्हा।"
हँसी यशोदा, फिर आँखोंमें जलके कण भर लाई,
और ऊठकर, भीतर जाकर, वह वंशी ले आई ॥

जिस रस-स्रावी, प्रस्तर-द्रावी के स्वर कानों पड़ते,
रम्भादिक को मानद उस मघवाके कान विगड़ते।
सुन तिलोत्तमा और मेनका एड़ी उठा न पातीं,
तान-हेतु बस, मुँह बाए की बाए ही रह जातीं ॥

मुनि गण की खुलती समाधियां खा आघात स्वरोंका,
जिसने पान किया गर्वित है अलभ अमृत अधरोंका।
जिसकी ध्वनि सुन असमयमें मुँह खोल शुक्तियाँ देतीं,
और स्वातिके योग विना ही मुक्त मुक्तियां लेतीं ॥

वह वंशी रेशमके सुन्दर पीत वसनमें लिपटी,
वनमाली से परित्यक्ता, हा! पीताम्बरसे चिपटी।
आई उद्धव के हाथोंमें, उसने शीश छुआई,
'अहा ! यही वह महाभागिनी जिसकी मची दुहाई ॥'

बोले—"माता, इसे अभी मैं कुछ दिन तुम्हें न दूँगा,
इसके दर्शन, स्पर्शन, वादनका आस्वादन लूँगा।"
माताने 'हाँ' कहा, रखी बस, उद्धवने सिरहाने,
ओ चिर भूखी ! तू पाएगी कल कुछ रूखे दाने ॥

बातें करते—करते उद्धव शयन-सिंधुमें डूबा,
पर, माता का मन न तनिक भी इन बातों से ऊबा ?
साँस छोड़कर एक विरह का, जा कोनेमें सोई,
उनको नींद कहां ? जिनके उर बेल विरह ने बोई ॥



पंचम अंग

विरहानल

सुन्दरता की सीमा, भाग्य-विहीना, शुचिताकी झाँकी,
राजकुमार-वधू विधवा-सी ऊषा बादलसे झाँकी ।
व्रजके ऊँचे तरुओं पर वह अरुण उदासी यों भासी,
विरह-शत्रुने रक्त-रंजिता मानों फेंकी फिर गाँसी ॥

तरल जलद गतिमानोंको लख धूएँ का भ्रम-सा होता,
अग्नि बढ़ी-सी आती व्रज पर देख न किसको दुख होता ?
आज नहीं घनश्याम इसीसे ऊषा भी अनलाई है,
सुधा-वर्षिणी बाला भी रे ! आग बरसती आई है ॥

पंकज-तरकश-सुप्त शिलीमुख पंख-पुंख-धर तत्पर हैं,
व्रज-बाला-उर-वेधनको ये सज्जित कुसुम-धनुष पर हैं ।
लगे डोलने डगमग-डगमग विरही चरण प्रभंजनके,
मर्माहत हो मर्म-ध्वनि हैं करते पत्र विगट-गणके ॥

यमुनाका मुख पांडु हो गया असह मर्म की मारोंसे,
पर विकला-सी चली जा रही ज्यों घायल तलवारोंसे।
यमुनाके उस विजन कूलका कण-कण आहें भरता है,
वंशीके स्वर फिर सुननेको आवेदन-सा करता है ॥

उद्धव उठ कर प्रात काल ही यमुनाको तैयार हुए,
वंशी कर में लेते, उरमें उत्थित भाव अपार हुए।
"प्राण वेणुमें फूँकूँ तो गा, पर, यह फूँकेगी व्रजको,
भला सँभालूँगा मैं कैसे, विरह-विदग्धा व्रज-रजको ?

धूल पड़े न कहीं मेरे इस वंशीके परिवादनमें,
आयेंगी वे दौड़ी-दौड़ी हो तत्पर अभिवादनमें।
परम विकल अति तृषिता, दग्धा उरमें जल-आशा भरके,
जो हो, उनको परितोषूँगा जिस-किस भाँति यत्न करके ॥"

इन्हीं बिचारोंमें उलझे ही उद्धव यमुना-तीर गये,
सप्तस्वराके निकल जहांसे सप्तजिह्व-से तीर गये।
उन्ही क्षतों पर आज लवण की पुटिका बुरकाने आये,
दारा-उर-वन-दावा पर ये दारू बरसाने आये ॥"

प्रात कर्मसे निवट, हस्तमें ले उस दीप-शलाकाको,
फूँकी—उन्नत करदी सहसा व्रज-रिपु विरह-पताकाको।
व्रज-श्रवणों-गत वह स्वर-लहरी मदिरासे कुछ कम न बनी,
अतिपायी ज्यों पीजाता है यथाप्राप्त ही बिना छनी ॥

सहज सिसकतीं, सलिल-विहीना बाल मछलियां ताल-फँसी,
मलिन सलिल को पाकर प्रमुदित होती, त्यों व्रज-बाल लसीं।
व्रज वनिताएँ बेसुध होकर, मधुछीनी मधुमखियाँ-सी,
दृष्टि-विहीना खुली हुई वे दर्शनोत्सुका आँखियाँ-सी ॥

स्वर-शर से वे विंधकर दौड़ीं शब्द-खोजमें मृगियाँ-सी,
अदृष्ट सुरभि पर अलियाँ-सी वे उड़ीं डाल तज खगियाँ-सी।
उद्धव हुए समावृत उनसे, ज्यों प्रसून मधु-मखियोंसे,
होता मुदित नहीं क्या धीमर भरा जाल लख मछियों से ?

हैं किशोरियां पीत-वदन वे लू की फूँकी कलियां-सी,
काँटों उलझी फड़क तड़पती कोमल काय तितलियां-सी।
अलकें उलझी पड़ी, न जिनमें तेल दिया है वर्षोंसे,
अक्षि-हरिणियों ने काजल-जल नहीं पिया है वर्षोंसे ॥

लोचन, कानों लगे श्रवणको उनकी देहलियाँ रोके,
भीख माँगते गत सम्पद वे आज ढीठ याचक होके।
उद्धवने वंशी को रोका, सम्मुख देख लताएँ-सी,
अति निर्मल मन संकोची की गुरु-सम्मुख शंकाएँ-सी ॥

कदली-वनमें अनल नृत्य की झाँकी-सी उनमें झाँकी,
उद्धवने वह उनकी सारी महा दुर्दशा उर आँकी।
जिन्हें देख पाषाण पिघल कर होजाएँ पानी-पानी,
जिन्हें देखकर शफरी कुल भी जीता रहे बिना पानी ॥

उद्धवने अति नम्र भावसे उनको सादर किया प्रणाम,
और उन्होंने भी आँखोंसे औंधाया अपना उर धाम।
बोली उनमें एक विरहिणी मनमें कुछ साहस करके,
आखें मींच विलोचन आयत, रसनामें दुखड़ा भरके ॥

"अजी! आपही आये थे क्या कल मथुरासे रथमें?
छाले तो न पड़े अश्वोंके चरणों, ताते पथमें?
और तुम्हारी अलकों पलकों की तो कुशल रही है?
जरा देखना पीताम्बर की कोर न कहीं दही है?

प्रियवर अतिथि, न बुरा मानना, हम यों पूछ रही हैं,
विरह महानलमें ब्रज बाला हम सब खूब दही हैं।
हमें होगई सहन दहन यह, बनीं सकल अनलौका,
क्यों किस शीतल उरको यह परसाये विधि झल झोंका ॥

उस शीतल नगरी का कोई प्राणी यहाँ न आया,
अनल-कुंडमें कौन चाहता दहना अपनी काया?
पक्षी तक भी तो न वहाँका ब्रज-मंडल पर छाया,
सुखिया गिनते पाप सदा दुखियों की छूना छाया ॥

कल हमने था सुना आपका आना, बालक-गणसे,
चाहा, जाकर लिपट जायँ उस आगत पूत चरणसे।
पर, हम विरह-सिलगती, जलती, झल कढ़ती, अति ताती,
पीन पापिनी दीन-रंकिनी, रहीं रोककर छाती ॥

व्यर्थ जले कोई न हमारी ज्वाला से आगन्तुक,
रोईं निशिभर, उरसे निकली अतिशय विरह-प्रखर लुक।
वेणु-स्वरोंको सुन कर कुछ-कुछ उर-पावक शितलाई,
तब यह साहस हुआ, यहाँ जो हम चलकर हैं आईं ॥

कहा, मुदित हैं श्याम? कभी आँखें भी शीतल होंगी?
स्वर्णक्षीरियाँ किस दिन पावन ये तुलसी-दल होंगी?
कांचनीय ये रिक्त मुद्रियां किस दिन नग पाएँगी?
मृग-हीना ये मृगियां मृगती किस दिन मृग पाएँगी?

शीघ्र कहो जी? शीघ्र कहो, बस, "शीघ्र-शीघ्र" सब बोलीं,
झुकीं एक सँग सरल विनयसे, प्रेम-वायु-वश डोलीं।
उनके झुकनेका वह सुन्दर दृश्य तथा दरसाया,
केशर की क्यारी में जैसे मारुत—झोंका आया ॥

आँखें श्रवण बनी हैं जिनकी टिक उद्धवके सोंही,
मुक्ताओंसे पूर्ण सीपियों की माला-सी सोहीं।
क्षुधित मछलियां विमल सरोवरके तटपर मुँह खोले,
खाद्य—प्रदाता की चुँहटी को जैसे पल-पल तोलें ॥

उद्धवके अधरोंका कम्पन उनका हृदय कँपाता,
वात—चलन तरु—पातों को ज्यों निज गति साथ नचाता।
वेणु कक्ष में दबा, झुका सिर, युगल हस्त निज बाँधे,
मोम—लिप्त—मुख महा प्रखर शर रसना—धनुपर साँधे ॥

"धन्य, देवियो! जगती-तल में तुम ही एक हुई हो,
कृष्णचन्द्रके चित्त—सूत्र की तुम ही बनी सुई हो।
सौ धीरों में धीर, ज्ञानियों में चूड़ामणि ज्ञानी,
जिसके उरमें, आँखों में है एक अलौकिक पानी॥

अरी! वही घनश्याम रात-दिन बरसा ही करता है,
तुम चपलाओंके सँजोगको तरसा ही करता है।"
फूट पड़ीं बस, 'हा-हा-हू-हू' करके सहसा सारी,
मानो व्रण पर असह अचानक ठेस किसीने मारी॥

चर्म-जीभसे गया न बोला, मर्म-जीभसे बोलीं,
"ओ ज़ालिम, क्यों करता है तू हमसे व्यर्थ ठठोली?
रोनेका दुख जाना करते हैं, बस रोने वाले,
निर्मोही तो देखे हँसते, व्यर्थ बिगोने वाले॥"

पोंछ दृगोंको बोलीं—"हमको बातें ये न सुनाओ,
इन डिगते भवनोंके नीचे कोई स्तम्भ लगाओ।
"वह कैसा है" इस विषयक मत हमको बोध बताओ,
तुम क्या तृषितोंके हित लाये? अपना नीर पिलाओ॥"

"शीघ्र मिलेगा तुम्हें नीर वह जिसकी तुम प्यासी हो,
लखपाया मैं ज्येष्ठ माससे तुम अतिशय त्रासी हो।
ओ चकोरियो! कलित कुमुद की कलियो!! उदधि-लहरियो!
जिस विध वह विधु कान्त मिले मैं कहूँ उसे श्रुति धरियो॥

क्यों चुगती अंगार और क्यों मुर्झ-मुर्झ जाती हो?
क्यों मिटती हो? गतोल्लास क्यों वृथा कष्ट पाती हो?
तुम अपनी लोचन-गुणावलीसे बद्धा हो सारी,
क्षणभंगुर तनु-सुंदरता पर जीवन बाजी हारी ॥

जो है आज सुरूप वही कल घृणा-पात्र बन जाता,
जिसके बिना न कल है आज, वही कल, कलित न पाता।
तुम जिस तनुपर रीझ रही वह पंच तत्वसे निर्मित,
रक्त, मांस, रस, मज्जा, मेदाओंका पिंड विमिश्रित ॥

उससे चित्त हटाओ, उसकी चिन्ता, चर्चा त्यागो,
दुख विनसे, सुख विकसे, ऐसे पथमें तुम अनुरागो"
कृष्ण-रूपकी निन्दाके ये शब्द न उनको भाए,
जीर्ण ज्वरी क्या कटुक क्वाथ की घूट नहीं भरजाये?

"जो मुकुंदने श्रीमुखसे है अपना मार्ग बताया,
हे सरलाओ! वह अपनाओ, जिसको छुए न माया।
यदि न मिले गोविंद-मूल तो मुझे शाप तुम देना,
कालिस मेरे वदन पोतना, जीभ काट यह लेना ॥"

सबकी आँखों कुछ आशा-मय एक हर्षकी रेखा—
विरह-भित्तिपर खिंची, भाग्य जब खुलता कुछ-कुछ देखा।
प्रियतम-मिलन-सहायक लगता किसको कौन न प्यारा?
तीर पकड़नेको तिनका भी जाता गिना सहारा ॥

परम दार्शनिक बोला वह शास्त्रों का मार्मिक ज्ञाता,
ज्यों बहेलिया जाल बिछाकर बाण साँधकर गाता ।
" कृष्ण तुम्हारे मन—उपवनमें विरम रहा है,
उपनिषदों में उसको 'आत्मा' 'ब्रह्म' कहा है ॥ "

वहाँ एक रवि सब कांचोंमें चमक रहा है,
वहाँ दिव्य सब देह-वनोंमें दमक रहा है ।
वह अपार, अविछिन्न, अमर, अज, अतुल एक है,
बनता अपने ही विनोदको वह अनेक है ॥

ज्यों जल हिममें, कनक कटकमें, रूई पटमें,
यथोपाधि वह लघु-दीरघ है घटमें, मठमें ।
जितने जगमें प्रिय पदार्थ सब उससे प्यारे,
है वह सबमें स्वयं इसीसे हैं प्रिय सारे ॥

वह प्राणोंका प्राण, चेतनोंका चेतन है,
सब भुवनों पर फहर रहा वह नित केतन है ।
इस भव तरु की मूल, शाख, फल, फूल वही है,
वही स्वयं मँजधार, महार्णव, कूल वही है ॥

मनो-मुकुर के पीछे लिप्त हुआ वह पारा,
जिसमें खिंचता बिम्ब विश्व का न्यारा-न्यारा ।
आप देखता, आप दिखाता, आप आपको,
आप सिरजता, आप भोगता पुण्य-पाप को ॥

कहते हैं उपनिषद्, न जाना जब तक उसको।
जानो महती हानि—शांति कब तब तक उसको?
अरी देवियो! तुम भूली हो! कहां बिकी हो?
आत्म-क्षीर-निधि भूल, स्वल्प-सर-कूल टिकी हो" ॥

लगी घूट यह रोगिनियों को नीम-सरीखी,
मानो होगी वमन, गई मुख जीती मक्खी।
कढ़े ऊष्ण उच्छ्वास, पसीना भालों आया,
कहता हियका हाल लोचनोंमें जल छाया ॥

"अरे देव, यह नियम समरका जग बतलाता,—
'हत-आहत पर पदाघात है रिपु न चलाता'।
पशु भी पशु पर दया-द्रवित हो है न जाता,
उत्तमर्ण भी व्याज दया कर न्यून लगाता ॥"

फूट रहीं यों भीतर ही व्रज-बाला-माला,
मोम-लिप्त खा उद्धवका तीखा उर-भाला।
अरे मेघ! इन चातकियों को यों मत मारो—
जलके गोले बाँध-बाँध—कुछ पात्र विचारो ॥

फिर गर्जा वह मेघ—'सुनो री व्रज किशोरियो!
कैसे परसो चन्द्र, बताऊँ मैं चकोरियो!"
साँस मार कर, अश्रु ढालकर, आँखों बोलीं—
"आगे भी कह, अब तक तो है छाती छोली।"

बोध–बाण

" संयम-नियम विशेष साधकर आसन मारो,
शासक ऐसी बनो, चित्तका शासन मारो।
' कुंभक, ' ' पूरक ', ' रेचक ' विधिसे प्राण निरोधो,
अन्तर्बाह्य सुनिश्चल रह कर अन्तर शोधो ॥

मन जावे जिस ओर उसे झट बलसे खींचो,
सतत ध्यानकी ध्रुव धारासे अन्तर सींचो।
घंटों, दिवसों, मासों, वर्षों यों मन कर्षो,
आत्म आत्ममें लीन हुई, फिर सरसो, हर्षो ॥

यही मुक्तिदा सद्य सिद्धिदा सत् समाधिका,
साधो इसको गेहिनियो ! बन अचल साधिका।
जो समाधिमें भासित होता वह ' मुकुंद ' है,
जो देता है मुक्ति, वही तो बस मुकुंद है ॥

अति आकर्षक होनेसे भी कृष्ण वही है, "
" बस, बस, रे ! बस, हमने तेरी बहुत सही है।
यह व्याख्या कर हमें कंटकों में न डाल तू,
ओ गायक ! मत गान-तान-मिस बिछा जाल तू ॥

हम समझी यह आया है, कुछ लाया होगा,
नभके नीचे परितप्तों-हित छाया होगा।
अरे ! कलेजे बीच चुटकियां भरता आया !
उकसाना क्या ? शिला और भी धरता आया !

हमने खोले कान कदाचित् सफल बनें ये,
असफल हा! हतभाग्य और भी बने घने ये!
तीन दिवसके भूखे ने जब हाथ पसारा,
बता उसे उपवास भला यह फर्ज उतारा!

ओ जल-वाहक! हमको? तू फिर? यह जल लाया?
जब कि जगत पर तेरी रहती शीतल छाया।
अरे! शक्र भी वज्र न अपना कभी अचानक—
करता है निक्षेप—बजाता पहले आनक॥

मेघों का आवरण तान तप—ताप हटाता,
उर्वी के उर जीवनकी कुछ बूँद दिखाता।
सूखे में तो वज्र हायरे! हम पर आया,
गरल गाँठ दी खोल, भला जीवन सरसाया!!!

आशे! तेरे पाश बँधे प्राणी यों मरते,
जन-जन के फँस हाथों अपने को हत करते।
अरे श्यामके सखा! बहुत है कठिन जानना—
पर पीड़ा—है सरल, बोध के तम्बु तानना॥

पर घर-जलता देख मूर्ख भी बोध वितरते,
घर में लगने पर पंडित भी बोध बिसरते।

* * *

"ओ उपदेशक ! हृदय दिखाएँ कैसे अपना तुमको ?
तुम धनांध हो, पड़ा न धनके हेतु कल्पना तुमको।
अरे वैद्य ! यह दवा बहुत ही चोखी तुम लाये हो,
कहो, कभी इस पीड़ा में तुम ख़ुद भी उलझाये हो ?

यह वह व्याधि नहीं है जिसकी कुछ ओषधि मिल जाए,
ओ अक्षत ! यह घाव न वह, जो टाँकों से सिल जाए।
जान सकोगे तुम निदान क्या, ओ माधवके दाएँ ?
जबसे वाम हुआ विधि हमसे, तबसे कौन न बाएँ ?

इस बैरिन यमुनाका जल भी इसके विटप, पुलिन भी,
हमें दौड़ते हैं खानेको, चैन न देते छिन भी।
अरे ! वही कुंजें अब हमको खड़ी गालियां देतीं,
मन मसोस कर हम अमानिनी उनकी सब सह लेतीं ॥

गाँव-गलीमें उधर हो गई हम सब 'आई, आई',
निन्दा-नीम चबा जाती हैं, हम तो विषधर-खाई।"
इतना कहकर सकल गोपियां करुण-सिंधुमें गरकीं,
रुके कंठ, आँखें भर आई, गहरी अनियां करकीं ॥

" दिन हाय ! हमारे ही वाम हैं रे !
इसमें कुछ तेरा है दोष नहीं,
' दिन योंही रहेंगे विचार यही,
रखे बाँधके अंचल होश नहीं।

तुम क्या ये छदाम दिखाते हमें ?
निजहाथों लुटातीं जो कोश नहीं,
तुम क्या ? विधि आप आ बोध जो दे,
इन आँखोंको होगा सँतोष नहीं ॥

तुम देते हो बोध हमें ही हमें,
इन आँखोंको तो समझाओ अरे !
टिकतीं न किसी भी स्वरूप पै ये,
इनकी यह खोज मिटाओ अरे !
हम लाजके आँचल ढाँर थकी,
इन बावलियोंको बुझाओ अरे !
जिस वस्तु पै ये मचली पगली,
वह वस्तु इन्हें ही दिखाओ अरे !

जिस गंगामें न्हाई हैं आखें अहा !
जिस सिंधुमें गोते लगे इनके,
जिस मोहिनी माधुरी मूरतिके,
मधुमें मृदु पंख पगे इनके ।
जिस ठाकुर-ठोडी ठगोरी ने रे !
सब ठौर-ठिकाने ठगे इनके,
हम क्या कहैं भाग्य-भगे इनके,
कि भँगे इनके कि, जगे इनके ?

जग-दर्शन-चावकी चूनरी चारु,
स्वशीशसे फेंक उतारी है रे !
चल चारु चितौनकी चूरियां औ,
भ्रुव-भंगिमा भूषणा वारी है रे !
रति-रागकी बिन्दी बिसारी, तजी—
कल काजल-गोट-किनारी है रे !

लिये आंसुओंकी मनि-माला जपें,
विधवा बनी आंख हमारी है रे !

तुम योगकी रीति बताते तो हो,
जरा देखो दृगोंकी अनीकनियां,
चलतीं पल एक नहीं, थिर हैं,
हिल जायँ मजाल कहीं अनियाँ ।
ये तो ध्यानकी धूनी रमाए हुई,
इन्हें छाए हुए लट-साँपिनियाँ ।
हम तो हैं भलेही वियोगिनियाँ,
पर, आँखें हमारी हैं योगिनियाँ ॥

उद्धव, किससे कहें, सुनाएँ, किसको दिल दिखलाएँ ?
विपद बिरानी सुननेवाले, जगमें ढूँढे पाएँ ।
निर्दयता, निर्ममता, निष्ठुरता की भी हद होती,
सोच सोच हम उसकी बातें, रोरो रातें खोतीं ॥

तुम कहते हो वह व्याकुल हो रात-दिवस रोता है,
तबही यह संदेश भिजाया, प्रेमी भी होता है ?
यह रूखा संदेश, और यह नीरस मिलन-प्रणाली
जान चुकी हम किसका, कितना, कैसा है वनमाली ॥

अरे ! कहो तो हृदय चीरकर दिखलादें हम तुमको ?
सिवा श्यामके यहाँ न कुछ है, बतलादें हम तुमको ।
देकर यह उपदेश हायरे मृतकों को मारा है,
या कुछ हमने शेष रख लिया, जो न अभी वारा है ?

हम टटोलती हैं घर अपना, कुछ न हाथ आता है,
उस बैरीके गुणों-फँसा दिल रोने लग जाता है।
हनुमत् सीताके समीप संदेश गया था लेकर,
उद्धव, क्या वह उसे योगकी आया दीक्षा देकर ?

कहो, रामने यों सीताको ज्ञान-मार्ग सिखलाया ?
अरे ! मिली जबतक न मैथिली, ठंडा श्वास न आया।
निज कर की प्रिय भेज मुद्रिका आत्म-प्रेम प्रकटाया,
हमें योगकी मुद्रा भेजी अच्छा नेह निभाया ॥

अरे मनुज ! उस बन्दरने भी मानवता दिखलाई,
तुम्हें कहैं क्या, तुमने जैसी थरपी विरद-बड़ाई।
कितना धैर्य दिया सीताको ! कैसे मेल मिलाया !
पवन-निरोधक, पवन-पुत्र-सा तुमने कर्म दिखाया ?

तुमको ज्ञान सिखाने आये, लेकर पोथी-पाना,
पंडित, पिछला भूल गई हम, जो कुछ भी था जाना।
हमने उरकी पोथी पर, बस ! एक न अक्षर छोड़ा,
दृग-जल-धारा से धो डाली, केवल 'अक्षर' छोड़ा ॥

प्रणय-प्रणव का जाप आप ही, अनायास होता है,
मन-योगी उस नेह-नींद में जागृत हो सोता है।
उद्धव, यह जड़ योग तुम्हारा, तुम्हीं साथ ले जाओ,
हम मृदु-भोजी, हमें न तुम यह दुर्जर भोग खिलाओ ॥

'श्रोत' ज्ञान हमको न चाहिये, 'दर्शन' ज्ञान हुआ है,
तुम पर्वत पर जिसे बताते, छाती उसे छुआ है।

पूत पराजय

क्या बतलाएँ तुम्हें अतिथि, हम अपनी करुण-कहानी?
आग हृदयमें और दृगोंमें नहीं देखती पानी।
रूखे मुँह ये सूखी बातें सुनकर जी जलता है,
हम घृत-सिक्ताओंको जग क्यों तप्त तेल तलता है?

आग लगे उस ज्ञान-ध्यानके, बहजायें वे पोथी,
उद्धव, जो बनमाली के चरितोंसे रीती-थोथी।
योगी, तुम क्या हमको छूछी-छनिक समाधि सिखाते?
अरे! बतातीं, जब थे रवि-शशि निज गति को विसराते॥

आज धूलि हम जन-जन-पदकी, फिरती हैं ठुकराई,
कभी हमारे हाथों बिकती ठाकुरकी ठकुराई।
उद्धव, हम भी बहुत रह चुकीं उस धन की धनियानी,
आज सुखी हैं हमें देखकर रति-रानी, इन्द्राणी॥

जिन धनियोंका कढ़े दिवाला उनको सब ही आकर,
सुमति सिखाते—जाते उनकी भूलें बता-बताकर।
जिन नदियोंकी छाती पर से उतर गया है पानी,
उद्धव, उनकी गहराई का पाता किसे न पानी?

जिन मखियोंका हरण किया जाता है मधु-मय छाता,
कहदे कोई हृदयवान् क्या उनमें है रह जाता ? "
कहते-कहते सबकी आँखें डब-डब कर भर आईं,
और रुके गल, मोहन-स्मृतिमें अति व्याकुल दिखलाईं ॥

दुखकी आहें छोड़, खड़ी ही बेसुध पड़ीं वहीं पर,
निराधार हो इनके मनके पैर न टिके कहीं पर ।
एक दूसरी पर लुढ़कीं वे दीं ऐसे दिखलाई,
मानो कदली-वनमें घोर-भयानक झंझा आई ॥

उद्धवके पग डिगे ज्ञानके करुणाका नद उझला,
व्यथिताओंकी विरहानलसे ज्ञान-सिंधु वह उबला ।
बैठ गया चुपचाप, और आँखोंमें आया पानी,
बोला—" धिक् है मुझको, हैं ये धन्य धन्य कल्याणी ॥

हाय ! अरे ! मैंने क्यों इनकी दबी आग सुलगाई,
सूखे तुलसीके वनमें यह नाहक आग लगाई । "
उनकी लख कर विकल दशा उद्धवकी छाती फाटी,
विरह वारिकी अरुक बाढ़में बही ज्ञानकी टाटी ॥

" हे मुकुन्द ! हे माधव ! मोहन, हे गोविन्द ! मुरारे ! "
गोपीजनके साथ-साथ यों उसने बोल उचारे ।
खड़ी हुईं वे मद-पायी-सी, पद-हीना पद गातीं,
आँखें अर्द्ध चढ़ी हैं जिनकी, भूली लेना गाती ॥

पकड़ हाथ उद्धव का खींचा, सँगमें उसे नचाया,
विरह-भँवर में फँस उद्धव ने रोदन-रास रचाया।
उद्धवको न पता, मैं क्या हूँ, क्यों हूँ व्रज में आया,
विरह-नशा उद्धव के उर में ऐसा विकट समाया॥

बेसुध उनके पद की धूलि लगा वह सिर पर धरने,
ज्ञान-गर्त्त व्रज-रज से मानो धीर लगा वह भरने।
कियत काल में हो सचेत कुछ, उद्धव ने यह जाना,
"असफल होकर सफल हुआ है रे! रे! मेरा आना॥"

उतरा पूर्ण न नशा अभी तक, झूम रहा है मदमें,
यथा मतंगज के पग डुलते पहुँच अतल जल नदमें।
गोपीजन ने उद्धव के गल में वन-माल पिन्हाई,
चरण चर्च कर, अर्चन कर, की भाव-मयी पहुनाई॥

बीड़ा दे अति प्रेम-युक्त निज सात्विक भाव जताया,
अहा! पराजित उद्धवने बीड़ेमें सब कुछ पाया।
बोला—"हे देवियो! धन्य तुम, मुझको धन्य बनाया,
ज्ञान-गर्व धो डाला, ऐसा पावन पाठ पढ़ाया॥"

बोलीं वे भगवतियाँ—"उद्धव, व्रजसे अभी न जाना,
व्रजका बाकी और पड़ा है तुमको घाव दिखाना।
तीर निकलने पर ज्यों धनु की लकड़ी ही रह जाती,
इसी तरह हे उद्धव, व्रजकी जलती छूछी छाती॥

धन्य हमारे भाग्य, श्यामने तुमको यहाँ पठाया,
इतना भी क्या न्यून, कि उसने कुछ तो कह भिजवाया ?
यह तो जाना, हमें न विसरा, उरमें तो रखता है,
प्रेम-पात्र ज्यों दूर, प्रेम-फल त्यों-त्यों ही पकता है ॥

उद्धव, घंटों, दिवसों, मासों, वर्षोंकी न व्यथा है,
अरे! हमारी थुड़नेवाली कल्पों तक न कथा है।
भवन चलो हे श्याम-सखा, रवि देखो सिरपर आया,
हुई हमारी तरह संकुचित तरुओंकी सब छाया ॥

उद्धवको ले संग चलीं वे बड़भागिनियाँ गातीं।
कृष्ण-चरित-मय गीत मनोहर मन्द-मन्द मुसकातीं ॥

रास-रजनी

यों, उद्धव पहुँचा विरह-व्यथा ले घरमें,
यों नये-निराले लेकर छाले उरमें।
दिन बीत गया मातासे बातें करते
हरि-विषयक सुनते चरित, मोद उर भरते ॥

सब उद्धव अपनी बिसर गया नागरता,
उन ग्रामीणोंके साथ मोदसे रमता।
जब कभी किसीसे सुनता विरह-कहानी,
होजाता उनसे पहले पानी-पानी ॥

दिल रहा न उद्धवका अब उसके वशमें,
कर गया विरह संचार अहा ! नस-नसमें ।
मिल एक रात सब व्रज-बालाएँ आईं,
वे दिखलाने हरि-चरित-ठाँव दुखदायी ॥

था कुसुम-सौरभित उपवन एक निराला,
उन हरित द्रुमों पर पड़ता चन्द्र उजाला ।
अति ललित लताएँ कुसुमित लूम रही हैं,
उस रजको झुक-झुक मानो चूम रही हैं ॥

निज कुसुम-दृगोंसे देख रहे तरु मानो,
कुछ बाट आजभी उसी दृश्यकी कानों ।
था एक चौंतरा शून्य पड़ा उपवन में,
कढ़ती थी जिसके 'आह' आह ! रज-कणमें ॥

वह 'उद्धव' को दिखला के बोलीं सारी,
"रे ! देख लुटीं हम यहीं भाग्य की मारी ।"
निज बाहु-मृणाल पसार-पसार बतातीं,
आः ! जीभ पकड़ लेती थी, फटती छाती ॥

भर साहस उरमें बोली एक सयानी,
" हे उद्धव, कितने लुटे यहीं पर ज्ञानी ।
नव पीताम्बरकी फहर, चँवर थे ढुलते,
इन निर्धानियों पर कभी व्यजन थे डुलते ॥

हम श्याम-स्कंध पर बाहु रखा जब करतीं,
लख, बसी विमानों, सुरियाँ साँसें भरतीं।
करती थी ईर्षा हमसे रति, इन्द्राणी,
भरती थीं कितनी सुरियाँ आ-आ पानी॥

स्वर, ताल, तान, आलाप भरा जब करतीं,
सुन उसे, मेनका, रम्भा राग बिसरतीं।
जब हरिका हस्त-सरोज चिबुक यह धरता,
उस काल मदन संकुचित, लाजसे मरता॥

जब वेणु-नादसे साथ मृदंग गरजता,
सिर झुला इन्द्र निज कृतमें कमी समझता।
यह चन्द्रक जो तुम देख रहे हो नभमें,
तब पड़ा ठोकरें खाता था पग-पग में॥

इस रजके कण कण का होकर अभिलाषी,
सिर भार समझता गंगा, उमा-विलासी।
सुन चरण तलोंकी ताल और कर-ताली,
विधि जाता सहसा भूल ऋचा स्वर वाली॥

जब होतीं हम उन्मत्त नृत्यमें सारी,
ले सँगमें अपने ब्रज-भूषण बनवारी।
कल कांची कांचन-मयी हमारी डुलतीं,
पा श्याम सरस कर स्पर्श कबरियाँ खुलतीं॥

जब वेणु-नाद का साथ किया हम करतीं,
कल कम्प कंठसे, त्रिभुवन रवसे भरतीं।
रच देते गगन वितान विमान सुरोंके
सुन तान सरस, घट जाते मान सुरोंके॥

खुल पड़ते नूपुर कभी हमारे पगसे,
सुर—गायक जाते बाँध सहज बन ठग-से।
वे राग-रागिनी-नाथ देव-ऋषि नारद,
चुप करते वीणा वादक विशद विशारद॥

निज अँगुलीकी मिज़राब शारदा रखती,
वह ज्योंकी त्योंही अपलक दृग हो तकती।
वह आश्विन शुक्ला पूत पूर्णिमा यामा,
उस अर्द्ध निशामें चरण प्रकृतिने थामा॥

हम एक-एकके बीच नचा वनमाली,
निज लम्बी अलकें छोड़ पीठ पर काली।
सिर सुन्दर साजित मोर-मुकुट कुछ बाँका,
है उसी दृश्यका उरमें अनमिट चाँका॥

यह आँसू बन कर घाव वही बहता है,
हा! सहन न करने योग्य पीड़ सहता है।
उसका वह वक्र विलोकन वेणु बजाते,
उर होता शत-शत खंड याद बस आते॥

थे कितने विशद विलोचन काले-काले,
वे सुपलक, सुन्दर, सरस, सहज मतवाले।
उसकी वह ग्रीवा मटक, लटक लटकीली,
नस-नस है उसने अरे! हमारी कीली॥

तुमने वह उद्धव, लखा न वेणु वजाते,
हम दिखलातीं, जो तुम आपेमें पाते।
उस रात लिया विश्राम पवन-पानीने,
था पाया सहज सुहाग प्रकृति-रानीने॥

सब तरुओंने मिस कुसुमोंके दृग खोले,
मिल चकवोंके भी उसी रात युग बोले।
है जब जब भी वह रात चाँदनी आती,
क्या वहती छाती बीच एक है काती?॥

था उसी रात इन पाँचोंने रस पाया,
तुम कहते तो हो उद्धव, इसको माया।
निज ब्रह्म-ज्ञान का बदला इससे करते,
ब्रह्म ज्ञानी आ—आ मचला कितने करते॥

उस छलिये का वह हसन धवल दशनों से,
बगराना अनुपम गंध, गात्र—वसनों से।
जब उसका मुख-सामीप्य कभी हम पातीं,
मुख-श्वास-सुरभि थी हमको मत्त बनाती॥

क्या कहें स्वाद उस महा रास-रजनीका,
कर दिया जगत यह उसने सारा फीका।
यह वही चौंतरा आज अरे! वजमारा,
लगता है तप्त तवा—सा, आँखों खारा॥

उस रात सुधाकर खाली हुआ सुधा से,
यह भग्न-भांड-सा टँगा दूर वसुधा से।
इस वनके तरुवर अबतक झूम रहे हैं,
उन्मत्त हुए इस रजको चूम रहे हैं॥

यह है न वायु, हैं उस मारुत कीं साँसें,
जो कढ़कर तातीं देतीं हमको त्रासें।
यह वन—भूपर जो तृण के अंकुर लखते,
है रोमांचित यह वसुधा पड़ी कलपते॥

मत पूछो उद्धव, व्रज की करुण कहानी,
कल दिखलायेंगी जलती एक निशानी।
अब चलो भवन हे उद्धव, निशि अति बीती,
ये रितने की न हमारी बातें रीती॥

घर आये उद्धव उनके सँग हिलकाते,
बहुभाव-भरे विस्मय से शीश हिलाते।

विरहिणी राधा

दिन अगले प्रातः काल मिलीं ब्रज-नारी,
उद्धवके आईं निकट प्रेमसे सारी ।
बोलीं—" हे सुन्दर, श्याम-सखा अबचलिये,
दिखलाएँ तुमको ब्रजकी कुचली कलियें ॥ "

वह वनमाला गल डाल स्कंध पीताम्बर
चल पड़ा गोपियों साथ तुरन्त सखा वर ।
वह युवति-वृन्दके संग चला यों जाता,
मन यथा इन्द्रियों-पीछे-पीछे धाता ॥

लेगईं ग्रामके निकट एक उपवनमें,
कढ़ती थीं तप्त उसासें जिसके कणमें ।
कुछ दूर द्रुमोंके बीच एक उजियाला,
जगता-सा देखा उद्धवने व्रज-छाला ॥

" यह कौन अरे ! इस वनमें ऐसी बाला ?
होता से व्यक्त जलती-सी नव ज्वाला !
यह स्वर्ण-मुद्रिका किसके करसे निकली ?
यह किस उष्मासे स्वर्ण-शलाका पिघली ?

यह कौन पड़ी है बाण-विद्ध हरिणी-सी ?
यह कौन पड़ी है नीर-छली तरणी-सी ? "
चल पड़े उसीकी ओर सशंकित मनसे,
" मैं चलकर पूछूं वृत्त उसी गत-धनसे ॥ "

जा निकट खड़े होगये उसी बालाके,
आताप—तपी-सी मुर्झाई मालाके
उद्धवने जोड़े हाथ किया सिर नीचा,
लख वेष, हृदयको आँखों-द्वारा सींचा ॥

थे विशद लोचनी के लोचन रस-भीने,
अध चढ़े ध्यानमें लीन, पलक-पट-हीने।
आकर्ण समुज्ज्वल शान्त सरस, तपवाले,
खुल पड़े मृगी-से, नलिनी-से नव काले ॥

कल कोमल, कुन्तल मेचक सोह रहे थे,
त्रय भाग हुए, जो उस दिनसे न बहे थे।
तपता था दिव्य ललाट ध्यान के तपसे,
कँपते थे पतले अधर अरुण प्रिय-जपसे ॥

वह पीताम्बर पहचान विवश हो बोली,
चिर डाली साँकल आज गिराकी खोली।
नलिनी ज्यों खिल कर सर सुगंध-मय करती,
ज्यों इत्र-शीशिका फूट सीकरें झरती ॥

"किस हेतु, कहाँसे अजी ! आप हैं आये ?"
यों बोली सहसा वचन मधुर मनभाये।
"हे देवि, तुम्हीं दो प्रथम सुपरिचय अपना,
मिट जाये ज्यों इस जनकी विकल कलपना॥"

कुछ हँसी दुःखके साथ भाव ले गहरा,
दुख जितना था सब आ वाणीमें ठहरा।
"मत मेरा परिचय पूछो हे अभ्यागत,
मैं दीप-विहीना सूनी राज इमारत ॥

मैं किसी कंठसे उतरी नव माला हूँ,
मैं युवक यतीसे बिसरी मृग छाला हूँ ॥
मैं एक सुरापीके करकी प्याली हूँ,
जो बिना घूंट ही भरे, गई डाली हूँ ॥

मैं कुसुम-दुहागिन पारिजात-डाली हूँ,
मैं आम्र-विपिनकी भटकी पिक काली हूँ।
मैं कान्त-कंठसे लिपटी स्वप्न-भुजा हूँ,
मैं हार चुकी सेनाकी भग्न ध्वजा हूँ ॥

मैं स्नेह-दीपकी श्यामल धूम्र शिखा हूँ,
मैं दैव-द्विरदसे कुचली कल कलिका हूँ।
मैं कलित कंठसे टूटी तान अधूरी,
मैं वर वादकसे छूटी ताल अपूरी ॥

मैं उपकरणोंसे सजी तजी हूँ थाली,
मैं परित्यक्ता हूँ सीता त्रेता वाली।
चुप हुई तुरँत बस कह कर इतनी वाणी,
भर लाई आँखें डब-डब कर कल्याणी ॥

उठ चली, और झट जा तमालसे लिपटी,
सब बाह्य वृत्तियाँ उसकी भीतर सिमटीं।
वह तारों-विजटित चीर रेशमी जूना,
सँग चला विरहका रोता दुखड़ा दूना॥

उद्धवने देखी दशा, देह निज भूला,
वह अगणित भावों बीच मूँद दृग झूला।
तब पूछी ब्रज-बन्धुओंसे उसकी गाथा,
"यह कौन देहिनी, देह रहित गत नाथा?

बतलाओ इसका नाम—धाम कल्याणी,
यह भूरि भागिनी रखती कौन कहानी?"
भर नीर दृगोंमें और श्वास ले गहरा,
ब्रज—युवती बोली एक कंठको लहरा॥

"हे उद्धव, है यह वृषभ—सुता ब्रज—रानी,
हम सबकी चूड़ामणी प्रेम—धनियानी।
है यह ब्रजेश्वरी श्यामा, श्री अभिरामा,
ब्रज—राज कुँवरकी परम भामिनी—भामा॥

हैं इसके अगणित नाम मुख्य है 'राधा,'
इस जैसा तप है किस तपसीने साधा?
यह रोम—रोमसे है माधवमें लीना,
तज दिया विरहमें इसने खाना, पीना॥

यह क्यों न तजे अब प्राण, भाग्यकी मारी ?
था इसने कम न नचाया विपिन-विहारी ।
जब यह कर मनमें मान मौन होजाती,
तब मोर-मुकुट-चन्द्रिका काँपती आती ॥

इन पद-कमलोंमें लोट—पोट वह होती,
इन चरणोंकी वह रह-रह कर रज धोती ।
छू इसकी सुन्दर चिवुक, दृगों भर पानी,
" इस अपनेको अब क्षमा करो कल्याणी ! "

यों होती थीं बस इसकी नित मनुहारें,
हरि प्रथम वेणुमें 'राधा' नाम उचारें ।
क्या रास-क्षेत्रमें 'चूँ' तक भी हो जाये ?
जब तक न राधिका हँसती-हँसती आये ॥

मत पूछो इसके भाग्य-सिंधुकी सीमा,
जो ठाठ मारता रहा नितान्त अधीमा ।
यह ज्येष्ठ मासकी बनी आज सरिता है,
यह नीरस कविकी छूछी-सी कविता है ॥

जबसे व्रजेन्द्रने व्रजको त्याग दिया है,
इसने भी प्राणों—साथ विराग लिया है ।
यह बड़े बापकी बड़ी लाड़िली बेटी,
इकलौती, सन्तत पुष्प-पालनों लेटी ॥

यह कुसुम कुमारी आज कंटकों सोती,
तजदिये आभरण भार और वे मोती।
पल एक सूखती नहीं मृगी-सी आँखें,
यह रो पड़ती है देख मोर की पाँखें ॥

उन्मनी, महा उन्माद भरी, पगली-सी,
हँसती है दुखके साथ, कली कुचली-सी।
जाती न भवनको, उपवन भवन बनाया,
यह नव तमाल तरु है इसके मन भाया ॥

जब बढ़ता विरह-प्रवाह विकल है होती,
तब इस तमाल से लिपट वेदना खोती।
वह देख रहे हो भग्नभांड औंधाया,
हे उद्धव, उसका मर्म समझमें आया ?

ये श्याम-चरणके चिन्ह, सुरक्षित इसने—
रख छोड़े हैं, कुछ करके लक्षित इसने।
हा ! वह अपत्य–दुख-ग्रस्त पिता नित इसकी,
रखता है सरस सँभाल, न भूल निमिप की।

यह उसने इस पर कुटिया एक छवाई,
सेवामें इसकी; दासी सतत लगाई।
हम जब जब इसको धैर्य बँधाने आतीं,
हम खुदही अपना धैर्य गँवाकर जातीं ॥

यह कभी-कभी तो 'खड़-खड़' करके हँसती,
लसती है इसमें एक अलौकिक मस्ती।
ये विटप, सुमन, ये वेलें, यह हरियाली,
इन सबसे इसने प्रीति विशेष बढ़ाली ॥

हैं पत्र-पत्र ने इसका मानस पाया,
वे रखते इस पर अविचल श्यामल छाया।
वे कुसुमवती लतिकाएँ इसने पालीं,
सब लिपट कुटीसे रहीं हुईं मतवाली ॥

यह विहग वरोंसे हँस—हँस है बतलाती,
निज कर-कमलोंसे चूगा उन्हें चुगाती।
है एक मोर अति सुन्दर पाँखों वाला,
जो अब ही निखरा तरुण नितान्त निराला ॥

नव नीलम-निभ है उसकी ग्रीवा नीली,
कलगी है सिरपर सुन्दर अति लचकीली।
है इसने उसको बड़े चावसे पाला,
लड़ता वह इससे ढीठ हुआ मतवाला ॥

वह आकर इसके अंक-मध्य जब लसता,
तब रोम—रोम है इसका रस—मय हँसता।
ले बाहुबीच यह उसको कंठ लगाती,
धर हाथोंमें पख उसके है सहलाती ॥

जब छूती चन्द्रक चींख मार कर रोती,
ये युगल सीपियां झरने लगतीं मोती।
यह करके जब दृग बन्द अश्रु बरसाती,
तब जड़-चेतनमें एक उदासी छाती ॥

इस भाँति दिवस यह अपने यहाँ बिताती,
गायन में रोती और रुदन में गाती।
तब बोला उद्धव—" अरी ! अभी मैं जाना,
वह हरिका होकर मौन, अश्रु बरसाना ॥

जिसका न लिया था नाम, कंठ भर आया,
वह भूरि भागिनी वही जान मैं पाया। "
झर गया दृगों से उद्धव झुककर सारा,
रज धरी भाल पर, पाया नहीं किनारा ॥

तब ललिता बोली—" अरी राधिके बहना !
ब्रजराज कुँवर से है कुछ तुमको कहना ?
ये श्याम—सखा हैं उनके भेजे आये,
सन्देश बहुत-से हैं भड़कीले लाये ॥

कुछ कहना हो तो कह, जीजी ! जी भरके
ये ले जायेंगे गठरी सिर पर धरके। "
तब हटा भाल से चिकुर, विलोचन खोले,
ज्यों सर में सरसिज युगल खा रहे झोले ॥

कुछ सोच, साँस भर मूँद लिये दृग दोनों,
उर उफना, टूटा बाँध डिगे पग दोनों।
गिर पड़ी खड़ी ही, मूर्छित हुई किशोरी,
ज्यों टूट गई हो मृदुतर रेशम—डोरी ॥

तब सखियों ने मिल उसको चेत कराया,
वह उठी, और जा चिन्हों शीश टिकाया।
उस बट—कपालसे लिपट लगी वह रोने,
उस चरण—वेदिका पर वलि-सी बस होने ॥

लख पाया उद्धव दशा विरह की बाँकी,
यों जीवित देखी थी न चिता की झाँकी।
वह रह न सका उस ठौर अनल का तापा,
चल पड़ा भूल कर अपना भी वह आपा ॥

फिर शनैः शनैः सब सखियाँ पीछे आईं,
मधु-गंध-मोहिता मधु-मखियों की नाईं।
घर आया उद्धव एक नशा-सा लेकर,
कुछ बचा-खुचा भी गर्व ज्ञानका देकर ॥

कुछ दिन उद्धवने किया, और वहाँ आवास।
व्रजकी देखी सब दशा, दुख-प्रद, गत उल्लास ॥
बाल-वृद्ध-गणसे मिला, जाना सबका हाल।
फूँक गया ज्यों विपिनके, दल-फल, दावा ज्वाल ॥

माँ से बोला—" माँ, मुझे, दो आज्ञा सस्नेह ।
माधवसे वर्णन करूं, व्रजकी दशा विदेह ॥ "

विदा

सुन उद्धवका प्रतिगमन यशोदा रोई,
" जब वही न ठहरा क्यों ठहरेगा कोई ?
रे उद्धव, मन था तुझसे कुछ शितलाया,
पर, तूने भी यह दुख-प्रद वृत्त सुनाया !

मैं कैसे रक्खूं बाँध पराया जाया ?
जब अपनेसे ही मैंने धोखा खाया ।
है यद्यपि मेरे प्राणों बीच अँधेरा,
सुख यह मुझको है, सुखी वहाँ सुत मेरा ॥

उद्धव, तुम मेरे कान्ह कुँवरको कहना,
इस अपनी 'धा' को सुमिरण करते रहना ।
वे चीते चितके चाव, न मैं लख पाई,
नव छिम-छिम करती बधू न आँगन आई ॥

वे सरस सोहिले और घुड़चढ़ी बाँकी,
क्या एक उमँग ? सब रही हायरे ! चाँकी ।
है भूरि भामिनी बहन देवकी मेरी,
मैं उसके सम्मुख एक तुच्छ-सी चेरी ॥

उस जीजीको पग लागन मेरा कहना,
दुख पावे मेरा कान्ह न तत्पर रहना।
जो सुना कष्ट-मय, दूँगी बहुत उलहना,
सब सहूँ, न वशका है यह मेरे सहना॥

वह नहीं जानती टेव लालकी सारी,
हो कितनी चाहे वह उसकी महतारी।
मैं पगली हूँ रे ऊधो! क्या बकती हूँ?
क्या जीजीसे अधिकार अधिक रखती हूँ?

रे ऊधो! जो हो उचित उसे तुम कहना,
नाराज कहीं होजाय न मेरी बहना।
इस भाँति स्नेहमें सनी अटपटी बानी,
कह रही बिलपती बेसुध-सी व्रजरानी॥

फिर भीतर जा कुछ लाई सरस कलेवा,
रस-पगा, स्नेह में सना सुधा-मय मेवा।
झट अपना चीरा चीर उसीमें बाँधा,
सुत-स्नेह लक्ष्य पर, तन, मन, धन सब साँधा॥

फिर एक सुघड़ कुल्हरी में सब सुनौनी,
भर लाई, उस पर ढाँप ढाक की दौनी।
दृग नीर, हृदय में आग विरह की जगती,
जाज्वल्य एक चकरी-सी फिरती लगती॥

" क्या भेजूँ ? क्या मैं रक्खूँ ? " भूल रही है,
यों दुविधा के हिंडोले झूल रही है ।
कर उठा वंशिका फिर वापिस रख लेती,
है कभी खिलौने उठा वहीं रख देती ॥

झट लाई सुन्दर वस्त्र मोतियों वाले,
नव पीत रेशमी कामदार उजियाले ।
" पहनेगा मेरा कुँवर लाड़िला कान्हा,
मैं नहीं—और तो निरखेंगी वह बाना ॥

जब होगा प्रमुदित इन्हें पहनकर लाला,
भर पाऊँगी मैं अपना कष्ट-कसाला ।
रे ऊधो ! मेरी जीजी से कह देना,
वह भूल न जाये कहीं दिठौना देना ॥

वे मंत्रित कँठले गल से नहीं उतारे,
जो डाले मैंने जतनों से बहु सारे ।
लग जाय किसीकी दृष्टि नहीं बजमारी,
रहती हैं पुर में बड़ी डाइनें नारी ॥

यह कुल्हरी में नवनीत आज का ताजा,
खायेगा मेरा चाँद चावमें साजा । "
इतने में व्रज-पति नंदराय भी आये,
यों देख गमन के ठाठ, खड़े मुर्झाये ॥

"क्या उद्धव, करली चलने की तैयारी?
लख तुम्हें मिटी थी बहु कुछ तृषा हमारी।"
उद्धव ने जोड़े हाथ और सिर नाया,
"हे तात, बहुत दिन रहा, बहुत सुख पाया॥

वह पाया हूँ मैं बात, न जो था पाया,
इस व्रज ने मुझको अपना ऋणी बनाया।"
भर आये नँद के नयन याद कर नंदन,
गल रुद्ध हुआ, कुछ था होठों में स्पन्दन॥

व्रज—बालाओंने सुना गमन उद्धव का,
उठ दौड़ीं, बैठा हृदय एक सँग सबका।
घर भरा नंद का सजल दृगों से सारा,
जाता है व्रज की छतका छनिक सहारा॥

रथ शीघ्र सारथी सजा सदन पर लाया,
रथ ग्राम—द्वार पर उद्धव ने भिजवाया।
सिर मातृ—पदोंमें उद्धवने जब नाया,
भर गई हिलकियों, साँस न पूरा आया॥

बस थपक रह गई पीठ, न कुछ भी बोली,
क्या बोले? भीतर एक जल रही होली।
जब चला भवन से निकल श्याम का संगी,
व्रज—गलियाँ रोने लगीं, हुई बेरंगी॥

उद्धवके पीछे चला विकल व्रज सारा,
गत भान, किसीको मिलता नहीं किनारा।
रथ—निकट पहुँच कर जब उद्धव जा ठहरा,
उस काल हृदय बस ऊठा सबका हहरा॥

अति श्रद्धा, सविनय पूत भावसे भर कर,
उद्धव ने रक्खा शीश नंद नृप—पद पर।
झट उठा नंद ने छाती से लिपटाया,
दी लाख मूक आशीष, न मुख खुल पाया॥

कर जोड़ गोपियों—सम्मुख दृग जल भरके,
उद्धवने किया प्रणाम भाल नत करके।
था व्रज—पतिका संकोच, न बोली कोई,
थी कौन वहाँ जो नहीं फूट कर रोई?

झट उद्धव रथ पर चढ़ा भाल रज छूकर,
जब चला, गोपियाँ रोईं हू, हू, हू, कर।
रथ गया दृष्टिके पार खड़ी वे लखतीं,
भर साँस भवन को लौटी सकल हिलकतीं॥

रथ पहुँचा मथुरा, कृष्ण खड़े थे आगे,
नेत्रोंके मिलते, गात्र मिलनको भागे।
गल बाहु डालकर दोनों, उर सरसाते,
ज्यों पारिजातके विटप सुमन बरसाते॥

" मम मातृ-पितृ-पद-पद्म परस यह आया,"
यों सोच-सोचकर हर्ष न हृदय समाया ।
वह उससे पावन और हुआ वह उससे,
मिल दोनों बैठे विकसे कमल सरस-से ॥

" बतलाओ उद्धव, जो कुछ दशा वहां की,
क्या देखी तुमने व्रजमें रहकर झाँकी ?
सब भाँति सुखी थी मेरी पूज्या माता ?
थे तन-धनसे तो सुखी सर्वथा त्राता ?

थे गाँव-गलीमें राजी तो जन सारे ?
गो, ग्वाल सुखी थे सर्व हमारे प्यारे ?
तुम मिले ? तुम्हें कुछ बोलीं वे व्रज-बाला ? "
गल रुका—ध्यान जब आया राधा वाला ॥

व्रज-रज

" क्या महिमा, गरिमा दशा कहूँ व्रज-रजकी,
हे माधव, महिमा विधि न कह सके व्रजकी ।
मैं गया नहीं था जबतक उस प्रिय व्रजमें
था पूर्ण सदयता देखा करता तुममें ॥

तुम बड़े निठुर, निष्प्रीत प्रतीत हुए हो,
जो व्रजके गहरे रोदन-गीत हुए हो ।
क्या कहूँ पिताकी प्रीति, प्रेम माताका ?
वह जोड़ा तो है रचा न इस धाताका ॥

क्या माँ-सी माँ है अरे ! यशोदा माता !
मैं वैसा उर तो नहीं किसीका पाता ।
नवनीत कभी तो है कठोर होजाता,
पर पिघली रहती सदा यशोदा माता ॥

तुम उन हाथोंसे पलकर हुए बड़े हो ?
है विस्मय, जो तुम इतने बने कड़े हो ।
पल एक न माँको सूखी आँखों देखा,
है उरमें गहरा घाव, न पतली रेखा ॥

माँ कितनी कोमल चित्त, स्नेह की सरसी,
वह बदली बनकर पल-पल मुझपर बरसी ।
मैं धन्य होगया, पावन हो आया हूँ,
उस पूज्या का पद-स्पर्श लाभ लाया हूँ ॥

तुम बिसरो बेशक, माँ न कभी बिसरेगी,
वह स्नेह-नदी है, कभी न चढ़ उतरेगी । ”
बह चला कृष्ण, सुन माँ की करुण-कहानी,
“ कुछ और कहो, ” कह रहा दृगों का पानी ॥

“ क्या कहूँ अजी, मैं व्रजकी विरह-कहानी ?
है एक अलौकिक रस में वह तो सानी ।
क्या रखा किताबों से माथा घिसने में ?
क्या रखा योग की चक्की में पिसने में ?

क्या रखा त्राटकी मुद्रा के साधन में ?
क्या रखा क्षुद्र देवों के आराधन में ?
रस कहाँ ज्ञान की इस सूखी करबी में ?
रस परस न पाता वह रसना दर्वी में ॥

है व्रजमें बहती सन्तत रस की धारा,
युग योगों के तट तोड़, बनाती गारा।
ये क्यों न वहाँ पर जाकर आप्लावित हों ?
व्रज-वनिताओं को देख समाहित चितहों ॥

उन बालाओंके पद की रज को छू कर,
कर देंगी पावन किसे न आँखें चू कर।
उन व्रज-वधुओं की लगन न कहते बनती,
वह वेगवती सरिता है एक उफनती ॥

हे माधव, तुम पर मरी-मिटीं वे सारी,
पर, तुमने उनको हाय! नितान्त बिसारी।
क्या तुम्हें चाहिये इतनी निपट विरसता ?
फिर और मिलेगी किसमें, कहाँ सरसता ? "

हरि भीतरसे गल गये, न ऊपर आये,
पीगये अश्रु सब, उर के भाव छिपाये।
ज्यों सजल श्यामघन श्रवण-सुखद रव करता,
ज्यों अतल पयोनिधि झोंकों साथ लहरता ॥

तब सहज सखा उद्धव से कुछ हँस बोले,
उसके वे पिछले बोल व्याज से खोले।
" हे सखे, गँवारों साथ स्वज्ञान गँवाना,
है; ग्रामीणोंसे व्यर्थ मिलाप बढ़ाना ॥

हम कहाँ, और वे कहाँ बल्लवी—वाला,
है जिनको अक्षर भैंस बराबर काला। "
उद्धव को आया बोल याद वह अपना,
झट झुका पदों में करके दृगकी झपना ॥

" हे माधव, हे गोविन्द, मुकुन्द, मुरारे,
मैं मूढ़ रहा, जाना न चरित्र तुम्हारे।
थी बड़ी धृष्ठता की मैंने उस बेला,
जो तुम्हें सिखाने चला, बना कर चेला ॥

इस अपने अपराधी का दोष बिसारो,
मैं भूला, भूला भूला अजी, उबारो। "
यों देख सखा को विकल, श्यामने थपका,
" क्या बात सखे, वह गया समय तो कबका ॥

मत उसको अपने मन पर लाओ किंचित्,
तुम शुद्ध हो गये, हो आये हो सिंचित।
हे सखे, बताओ, और वहाँ क्या देखा ?
कुछ और खींच दो इस मन पर रस-रेखा ॥ "

दृग छलक उठे उद्धव के छल-छल करके,
छन छननी से, छलिये से छिन-छिन छलके।
सिर डुला, मूँद दृग उद्धव डगमग डोला,
"मत पूछो मोहन," दुःखित-विस्मित बोला॥

"था तुमने जिसका मुझसे नाम छिपाया,
वह भूरि भागिनी मैं आँखों लख आया।
वह साँस ले रही शरत्काल-सरिता-सी,
वह देखी मैंने चेतन एक चिता-सी॥

वह होती शीतल पल न जेठ की लू-सी,
अब निपजी खेती, सूखी निजला भू-सी।
वह पड़ी हुई है वन में हीरक—माला,
वह उजड़ी है रे हाय! प्रेम—मख—शाला॥"

जो सुनना था कुछ इष्ट, सुना जब उसको,
मन हरि का माना नहीं बोध-अंकुश को।
जल रोका रंच रुका न दृगों से हरि के,
ली एक दीर्घ उच्छ्वास 'हाय' रव करके॥

फिर बोला उद्धव, "श्याम, मिटी है राधा;"
हरि शून्य हुए, तनु-ज्ञान रह गया आधा।
"तव चरण-वेदिका अर्चा उसने ठानी,
जीती है केवल खाकर कुछ फल-पानी॥

इस तनु के नाते वह तमाल से लिपटी,
ज्यों चन्दन तरु से रहती अहिनी चिपटी।
कुछ उसने पूछा नहीं हेतु मम आना,
सुन सखियों से जाना भी मेरा जाना ॥

भर साँस रह गई अश्रु ढाल वह धन्या,
होगई मूर्छिता सुन तव नाम अनन्या।"
बस, इतना कहकर उद्धव पानी-पानी-
बनगया, फिरा बस, उसकी सुधपर पानी ॥

राधा-रहस्य

निस्तब्ध हुए बस, दोनों राधा-मय हैं,
मन दोनों के ही एक ध्यान में लय हैं।
जब चकवी सरिता-पार हूक दे रोती,
फिर चकवे की क्या और दशा है होती ?

हरि-मानस-सर में तरती वही मराली,
मन-वन में जिसके रमता है वनमाली।
हरि सँभले, बोले—"सखे, प्राण मम राधा,
उस धन्या ने है घोर विरह तप साधा ॥

मत उसको अन्या कहो, सदैव अनन्या,
वह देह-दूर है, मुझमें लीना धन्या।
क्या कभी सूर्य से ज्योति अन्य है होती ?
क्या चमक बिना भी मोती है कुछ मोती ?

मुझ महा कोष की है राधा ही ताली,
है राधा ही इस जीवन की मृदु लाली।
है मुझ मयूर की राधा नवल मयूरी,
मैं आधा राधा-विना, कमी क्यों पूरी ?

तुम देख रहे हो जो यह विपुल पसारा,
है राधाके ही एक चीरका तारा।
मुझ शक्तिवान्‌की शक्ति एक है राधा,
है मुझ अबाधकी राधा सबला बाधा॥

मैं राधाकी ही लहरोंसे लहराता,
मैं श्वास-श्वासमें 'राधा-राधा' गाता।
मुझ दिव्य विपिन की है राधा हरियाली,
मुझ मतवालेकी है राधा रस-प्याली॥

मुझ दिव्य सूत्र में हैं राधा सुमनाली,
मैं श्याम वर्ण हूँ, है राधा लट काली।
मुझ शीतल जलमें राधा एक सरसता,
मैं बूंद-बूँदमें राधा बना बरसता।

मुझ पारिजातकी सुमन-सुगंधि वही है,
वृषभानु-सुता नित मेरी ओर बही है।
मैं राधा-मय, है राधा मेरी झाँकी,
निज उरमें उसने है मेरी छवि चाँकी॥

मुझ गोलककी है राधा पुतली काली,
मुझ दिव्य-सुधाकरकी राधा उजियाली ।
मुझ कलावान्की राधा कला प्रवीणा,
मुझ वादककी है राधा सरस सुवीणा ॥

मुझ गायककी है राधा तान सुरीली,
मुझ कंचनकी है राधा आभा पीली ।
मुझ सजल मेघमें लसती राधा चपला,
मुझ विष्णु रूपकी है राधाही कमला ॥ "

जब राधा—विषयक यों उद्गार निकाले,
कुछ दर्द मिटा, कुछ छिलकर छलके छाले ।
तब उद्धव ने वह सौंपी माँके करकी,—
सौगात, प्रेम—पोषाक, सुनौनी घर की ॥

मिंच गये अर्द्ध दृग, हरि के वे अनियारे,
फूले न समाते हैं आनँद के मारे ।
" हे उद्धव, आओ, माँको यह सँभलादें,
संवाद वहाँके उनको भी बतलादें ॥ "

उठ, दोनों भीतर गये मातृ—चरणों में,
बस, मेंह-सा जा बरसाया माँ-कर्णों में ।
सुन वृत्त, देवकी परम—परम हर्षाई,
कर याद बहन—उपकार, आँख भर लाई ॥

सुन प्रेम—पगे संवाद और भी झूमी,
"मैं रिनियां उसकी," कह, चुचकारी भूमी।
इस भाँति हुआ आनंद नितान्त निराला,
घर भर में गूँजा गीत यशोदा वाला॥

यह चरित रहे नित भक्तों को सुख-दायी,
जो लीला—धरने है लीला लिखवायी॥



षष्ठ अंग

वैदर्भी वरण

वह देखो, गोकुल का खेला, मथुरा का उपजाया,
दुष्ट-दलन-हित दुर्ग द्वारका कैसा सुघड़ रचाया।
जरासंध से बार बार जो हार, यहाँ पर आया,
इसके मन की कौन जानता, जिससे मोहित माया ?

व्रज-वासी बनगया आज वह, यहाँ द्वारका-वासी,
जीत-हार की लाज न जिसको, जग-हित परम प्रयासी।
लोक-लाभ में लाभ समझते, लोक हानि में हानी,
लोकोत्तर पुरुषों की होती जग में अकथ कहानी ॥

स्वयं हार कर जगत जिताते, होकर जग के प्रहरी,
कौन गिन सके लहरें इनकी, ये अति अद्भुत लहरी ?
जहाँ ध्येयकी पूर्ति विजय हो, वहाँ हार फिर कैसी ?
दीर्घ दर्शियों की न दृष्टि कुछ होती ऐसी-वैसी ॥

धीर पुरुष परिणाम सोच कर रखते हैं पग अपना,
लोक—हसन पर बदला करते कभी न वे मग अपना।
माया के कुहरे में उनकी दृष्टि न धुँधली होती,
अश्म-पार-दर्शिनी दृष्टि निज लक्ष्य कहाँ कब खोती ?

सागरके चरणोंमें जाकर सागरने पग रोपा,
दुर्ग द्वारका सुन्दर सब विधि सुघड़ वहाँपर ओपा।
रत्नाकरके पदों दुर्ग स्थित, दुर्ग-पदों रत्नाकर,
लोट-पोट होते हैं दोनों, एक अन्यको पाकर ॥

रत्नाकरकी उच्च उर्म्मियाँ कोट—कँगूरे छूतीं,
प्रकृति-नायिकाकी, नायकके लग कानों सी दूती।
'खल-खल-खल-खल' जलधि खोलता मानो खल-हरनेको,
खल-संहारीसे कहता है, वसुधा उद्धरनेको ॥

कोसों लम्बा दुर्ग अरुण पाषाण-गठित अति ऊँचा,
रत्नाकरके मुकुट-सरीखा शोभित हुआ समूचा।
लाकर यदु-परिवार उसीमें निर्भय-साथ बसाया,
यथा यूथपतिने स्वयूथ-हित रक्षित विपिन बनाया ॥

सहज सरस सुकुमार युवतियाँ-युवक सुचारु गठीले,
गौर वर्ण, मन-मोहक, मृदुतर मानस, नयन नुकीले।
धीर, वीर, रण-निपुण बाँकुरे अगणित वर यदुवंशी,
चक्र सुदर्शन आश्रित सबकी बजी चैनकी वंशी

कन्द-मूल, फल-फूल-सुलभता आरामों में आई,
नन्दन-वन की श्री-सम्पति सब विटप-विटपमें छाई।
पारिजात वन विटपोंने निज अहोभाग्य कर माना,
कल्प-लता फूली न समाती, ताना ऐसा ताना ॥

कल रव विहग वरोंका मृदुतर, श्रवण-सुखद सुरसीला,
सुन पड़ता सब ओर सुहावन, किये इन्द्र-मद ढीला
किन्नरियों-सी कल कंठी कुल-कामिनियाँ घर-घरमें,
भरती हैं आलाप, तान, स्वर, ले वीणा निज करमें,

इंधन भार धरे निज सिर पर वनसे घरको आतीं,
श्रमिक युवतियां खड़-खड़ हँसतीं, जानें क्या-क्या गातीं।
कूपों पर पनिहारी मुनि-मन-हारी प्यारी-प्यारी,
निज-निज कार्य-निरत बतलातीं, कल रव करती सारी!

ऋषियोंके आश्रमों-बीच है यज्ञ-धूम्र यों छाया,
मानो आज धरासे मिलने गगन उतर तल आया।
सुखके सागरमें निमग्न है पुरी द्वारका सारी,
घर-घर "राधा-कृष्ण" रट रहे मुदित हुए शुक-सारी॥

उच्च राज-प्रासाद भव्य अति जगमग-जगमग करता,
जग-मग-शोधकसे सेवित हो, भाव विशुद्ध वितरता।
ब्रह्मचर्य परिपूर्ण गठित तनु नखसे शिख तक सुन्दर,
सागरसे गंभीर, हिमालयसे उन्नत मन, मृदुतर॥

हिमसे शीतल, उष्ण अनलसे, कोमल तर नौनीसे,
जलसे अतिशय आर्द्र और अति क्षमाशील क्षौणीसे।
बैठा एक युवक वर ऐसा, उस सुहर्म्यकी छतपर
सागर आँखों तले दबा कर, पूत चिन्तना-तत्पर॥

मन-सागरकी पूत लहरियाँ आँखोंमें लहरातीं,
कौन पढ़ सके इन आँखोंको, क्या-कुछ वे जतलातीं ?
आ पहुँचे बलभद्र उसी क्षण—देख कृष्ण हर्षाये,
अपने दक्षिण ओर विनयसे हाथ बढ़ा बैठाए ॥

"कृष्ण, तुम्हारी आँखें क्यों ये गहरी आज चढ़ी हैं ?
हृदय-सिंधुकी आज लहरियां वे अन्दाज चढ़ी हैं।
पूर्ण सुखी परिवार हमारा और प्रजा भी सारी,
दुःख-शोक, चिन्ता न किसे कुछ, प्रमुदित सब नर-नारी ॥

इस सागर की समता में है सुख-सागर लहराता,
यदु—कुल की समता में अब मैं कुल न एक भी पाता।
कौन कमी, जो चित्त तुम्हारा पकड़े-सी बैठी है ?
देख रहा हूँ एक शली—सी हृदय-बीच पैठी है ॥"

कृषक गीत

हँसे कृष्ण गम्भीर भाव से और विनय से बोले,
अहा ! गिरा के धर काँटे में शुचि हीरे-से तोले—

* * *

"आर्य, तुम्हारा कथन सत्य है, सुखी सर्वदा यदु-परिवार,
पर, क्या इतने में हो जाये 'अलं' हमारा बाहु-प्रसार ?

दीन हमारे हम दीनों के, दीन हमारा प्रिय परिवार,
दीन दलित—दुख दूर भगाना इस जीवन का निश्चित सार।
आज जगत में आग लगी है, त्रस्त प्रजामें हाहाकार,
शासक हो उद्दंड चले हैं, राज-नीति, भय, धर्म बिसार ॥

प्रजा-धेनु का पय न पान कर रुधिर पी रहा शासक वर्ग,
भौतिक भुक्ति निरत नृप गण हैं, माना यहीं स्वर्ग-अपवर्ग।
बल-हीनों को बली दबाए, खाये जाते हैं दिन-रात,
आज रक्त में रँगे पड़ रहे मूछों पर हैं घातक-हाथ॥

सुन पड़ता चीत्कार चतुर्दिक् अबलोंका, अबलाओंका,
विकल बनाता मुझको क्रन्दन उन विकलों विकलाओंका।
हलधर, विश्व-विपोषक हलधर-गणका रक्त पिया जाता,
आज विलासी भूपोंद्वारा उन पर क्या न किया जाता?

जो ढकता है जगके तनको, जो रखता लज्जा सबकी,
जिसके पूत पसीने द्वारा बनती है मज्जा सबकी।
सींच स्वशोणित शुद्ध धरामें जो निपजाता है मोती,
जिसकी शुद्ध शिराएँ हा! हा! रिक्त विश्वके हित होती॥

ज्येष्ठ मासकी दोपहरीमें जो लेकर हल-कलम बड़ी,
विधि बनकर है लिखता लिपि-सी, भूमि भालपर, साध बड़ी।
आज कृषक वह पिसा हुआ है इन प्रमत्त भूपों-द्वारा,
उसके घरकी गायोंका रे! दूध बना मदिरा सारा!

उसकी हँड़ियाका मक्खन अब ऊँचा काँचकी ताकोंमें,
यह फाकोंसे दिवस बिताता, वे खाते घी पाकोंमें।
आज कृषकके क्षुधा-व्याधिसे पाँव काँपते हैं डगमग,
उनके पाँव न मदिरा टिकने देती, छुड़ा दिये शुभ मग॥

आज कृषक निज उदर-पोषणा-चिन्तामें है इतना चूर,
रोना तक भी भूल गया वह, रोम-रोम दुखसे भरपूर।
जिसके दूध-मुँहे बालक भी, श्रम करके टुकड़ा पाते,
आर्य, हृदय फटता है मेरा, उनकी विपदा-सुधि आते ॥

इन विलासियोंकी तानोंके सुननेमें कटती घड़ियाँ,
उनकी तो निज रक्त घूट पी, मर पचकर घटती घड़ियाँ।
इन मदांध महिपोंकी आँखें खुलतीं आज नहीं मदमें,
उनकी आँख नहीं लगती हैं, नींद पिसी है आपदमें ॥

इनके वर नर्त्तकियाँ नचतीं विपुल विलासोंमें लवलीन,
उनकी सतियाँ श्रम कर करके पातीं अशन-वसन तक भी न।
आर्य, विचारो तो यह जगमें कितनी मची विषमता है,
धर्म और श्रम आज किस तरह अनय-यंत्रमें पिसता है ॥

मैं समत्वका पोषक मेरा रूप कभी भी विषम नहीं,
मुझे विषमता क्यों न खले, यदि देखूँ जगको विषम कहीं?
चतुर कृषक क्या क्षेत्र-विषमता हटा, न उसको सम करता?
टीले मिटा-मिटा कर श्रमसे गर्त्त न क्या उसके भरता?

जगत-क्षेत्रपर यह जो अत्याचार-विषमता बिखर रही,
रामभद्र, यह मुझको रह-रह शल्य-तुल्य है अखर रही।
केवल यह यदुवंश न मेरा, मेरा सब जग है परिवार,
सत्य, धर्म-रत दीन-दुःखितोंपर मेरा है पूरा प्यार ॥

सदाचार, शुभकर्म, सत्य, नय, विनय, बोध मुझको प्यारा,
जहाँ अनय है वहाँ बंधु भी मुझको शत-रिपु वत खारा।
जो जन उदर भरे पर सुखसे हो जाते हैं जगमें सुप्त,
महामूढ़ वे माया-मोहित, होते उनके पुण्य प्रलुप्त ॥

आर्य, आज उद्दंड नृपोंका दंड जगत पर घूम रहा,
उन्हें दमन करनेका अवसर मेरा मन है ढूँढ रहा।"
हँस बोले बलभद्र हाथ घनश्याम स्कंध वर पर रखकर,
"श्याम, बहुत आयेंगे देखो दुष्ट-दलनके अब अवसर ॥

इस हलसे वसुधाके टीले ढहा-ढहा कर देंगे चूर,
ऐसा भास रहा है, माधव! वे दिन और नहीं अब दूर।
संध्या वेला हुई उस समय किरणों ने रँग लाल दिया,
सृष्टि-वधू पर लाल दुशाला रवि ने जाते डाल दिया ॥

श्याम-गौर वे दोनों सागर की सुषमा हैं देख रहे,
शोणित नद को अरुण चाँदनी को, वे बहुविध लेख रहे।
होली खेल रहा है सागर कोट-कँगूरे छू-छू कर,
बिखर रहे हैं दुर्ग-अरुण-पाषाण गात्र नव धू-धूकर।

अरुण दृश्य ये लखते जब तक अरुण भावना लिये कड़ी,
अरुण वर्ण अनुरंजित मुखवर युगल तरुण उर साध बड़ी ॥

* * *

तब तक पाठक चलें वहाँ पर जहाँ अमित अनुराग लिये,
बैठी एक किशोरी अपने प्राणों-साथ विराग लिये।
कुंडिनपुर अवरोंमें हँसता प्रासादों की पाँति लिये,
उलझे हुए प्रणय की करुण समस्याएँ बहु भाँति लिये ॥

चमक रहे हैं कलश सुनहरे हरित द्रुमोंकी छायामें,
मानो विद्युत साँस ले रही ठहर घनों की कायामें।
हयवर हींस रहे हैं लाखों कुंडिन पुरके चारों ओर,
शैल-अनी से अनी अड़ी है जिसका मिलता कहीं न छोर ॥

बीच-बीच मातंग वरोंकी जमी हुई है पुष्ट कतार,
मानों सागर दो भागोंमें बाँट रही गिरिकी दीवार।
सैन्य-सिंधुमे कुंडिनपुर लस रहा द्वीपके ही उपमान,
लसता झंझा वात-विलोडित सागर स्तंभित पोत समान ॥

घर-घर बन्दनवार बँधी हैं लाखों लाख पताकाएँ,
साँस लेरहीं परम सुगंधित अगणित अगर-शलाकाएँ।
भीष्म भूपके भव्य भवन पर भाव भरी बहु भामिनियाँ,
बाँध-बाँध कर टोली जातीं कलकंठी कुल-कामिनियां ॥

उत्सव और उमंग उमड़ कर आप्लावित करते गलियां,
विना एक वा दोके सबके उरकी विकसित हैं कलियां।
रुक्मांगी रुक्मिणी षोड़सी भीष्मककी दुहिता प्यारी,
चेदिराज शिशुपाल-साथ परिणयकी जिसके तैयारी ॥

रुक्मी रूक्ष हृदय घर भरमें, ज्येष्ठ पुत्र, उसकी चलती,
उसकी कटु करतूतोंसे यह भगिनी सिवड़ी-सी जलती।
कहा रुक्मिणी-माँने—"बेटा रुक्म, तुम्हें यह उचित नहीं,
यों बल-पूर्वक परिणय करना, है परिणयका धर्म कहीं?

कन्याकी इच्छा न देखना, जिसे संगिनी होना है,
पहली सम्मति उसकी, जिसको अर्द्धअंगिनी होना है।
कहाँ कृष्ण, शिशुपाल कहाँ, तुम अब भी आग्रह दूर करो,
पुत्र, वृथा निज कुलका यश सौभाग्य, धर्म मत चूर करो॥

लौटादो शिशुपाल और बुलवालो यदु-कुल-उजियाला,
अब भी कुछ बिगड़ा न, बचालो होता अपना मुँह काला।"
लाकर त्वेष तनिक आँखोंमें बोला—"माँ, बस मौन रहो,
मुझे न कुछ भी ज्ञान सिखाओ, कहना हो अन्यत्र कहो॥

जो कुछ जैसा कृष्ण अरी! वह जगमें किससे छिपा कहीं?
चेदिराजसे उसकी तुलना करना किंचित उचित नहीं।"
खड़ी रुक्मिणी कोनेमें चुपचाप सुन रही यह संवाद,
देखा, रुक्म करेगा निन्दा, चली साँस भर लिये विषाद॥

राज-भवनकी छतपर वह बस, एकाकी जाकर बैठी,
हैं आँखोंमें आँसू जिसके एक शेल उरमें पैठी।
बड़े-बड़े दृग खोल, गगनकी ओर ताककर वह रोई,
हुई विमूर्च्छित, ज्यों विमानसे गिरी देव-बाला कोई॥

वियत-पतित आः ! पारिजात-पुष्पों की सुरपति की माला,
मूर्च्छित रति धृति हीन पतित भू पति-वियोगकी जल ज्वाला।
कोमल कल कलिका कलेवरा, कनक छाप-सी नग-हीना,
सिसक रही सिकता-संसिक्ता सफरी-सी सलिलाधीना ॥

आकर चेत कराया चेरी ने बहुविध उपचार किया,
स्वर्णांगी ने बैठी होकर चित में एक विचार किया।
"लिख कर भेजूँ पत्र, बुलाऊँ क्यों न द्वारका-वासी को,
शायद आकर दर्शन दे दें, चलते साँसों दासी को॥"

मँगवा कागज़ क़लम-दवात नयी अनुराग-मयी स्याही,
तन्मय होकर लेखन लीन हुई विरहानल की दाही।
यावक-रंजित कंपित कर में सुघड़ लेखनी यों सोही,
मानों स्वर्ण कमल पर बैठी जोंक उगलती है लोही॥

प्रणय पत्रिका

सर्व सिद्धि शुभ धाम महोदधि द्वारका,
सहज सर्वदा सुखद स्वजन-दुख-हारिका।
तत्र विराजित सदय शिरोमणि, जलद-से।
यदु कुल-भूषण, वीर बाहु, कर करभ-से॥

दीन-हीन-असहाय-सहायक सर्वदा,
सरस दृष्टि, वर वृष्टि-कारिणी नर्म-दा।
पहुँचे उस गुण-ज्ञान-पयोधि गभीरके,
पदों अनुचरी का प्रणाम बलवीरके॥

घनश्याम, कहो, बरसोगे भला कब,
सूख चलेगी ये खेती खड़ी?
वृक-व्युहके बीच घिरी है मृगी,
विपदा की बड़ी इस काल घड़ी।

यह गाय अचानक हाय, अरे!
बधिकों के बँधी हुई जाल पड़ी,
इस विश्व में विश्रुत नाम तुम्हारे,
गोपाल की आज है जाँच कड़ी॥

असुओं के द्विसूत्र में पोही हुई,
लिये आँसुओं की वर माला बड़ी,
उर-दीप, सनेह से पूरित पूत,
सँजो मिटजाने की लौ है कड़ी।

धृति-धूप त्रपा-मति-त्रात्ति जला
तव आरती को अचला-सी अड़ी,
यह आज पुजारिन आरति ले,
खुद आरति-सी जलती है खड़ी॥

यह एक चकोरी तुम्हारे लिये,
चिनगारियाँ चंचुपुटी भरती,
वह तो न चकोरी जो चन्द्र-मयूखों,
को त्याग किसी पर पै मरती।

जल जायँ भले पँख-चंचु चलें
चल प्राण, चकोरी कभी डरती?
विरहाग बुझाने को हाय अरे?
चिनगारियाँ चाव से ही चरती॥

दिल दे जो दिया किसी एक को तो,
फिर वापिस है लिया जाता नहीं,
इन आँखों में श्यामल काजल के,
सिवा और पदार्थ समाता नहीं।

इन कानों में रागिनी रम्य रमी,
अब और तो राग सुहाता नहीं;
रसना ने चखा प्रिय नाम अहा!
अब और पदार्थ है भाता नहीं॥

गुण, नाम, स्वरूप तुम्हारा सुना,
किसी संत-सयाने से साँचे धनी!
करतूतें तुम्हारी सुनी तबसे,
जबसे यह दासी तुम्हारी बनी।

'बना' तुमको बना उर-वेदी बैठा
बिना वेद विधान बनी मैं 'बनी'
चढ़ मैं तो गई पद वेदिका पै,
तुम मानो न मानो भले अपनी॥

चाहे सातों सिंधु निज सीमा को बिसार डालें,
चाहे चन्द्र-रवि निज गति पै रहैं नहीं,
चाहे धराधरों को न धरा शीश धारै चाहे,
धीरता बिसार शेष धरा को सहै नहीं।

चाहे भंग होवें खंभ प्रकृति के मंदिर के,
चाहे निज गति पर पवन बहै नहीं,
भीष्मक की जाई यह रुक्मिणी तो नाथ, तीन,
काल में भी 'नाथ' भूल अन्य को कहै नहीं॥

चाहे लोक-लाज और चाहे परलोक जाय,
चाहे नेह-नाते सारे छोड़ने मुझे पड़ें,
चाहे बात पंचों की भी कंचन के मंजु मंच,
चाहे हेम-हीर-हार तोड़ने मुझे पड़ें ॥

विभूति बिसार सर्व, विभूति रमानी पड़े,
जोगिनी के साज चाहे जोड़ने मुझे पड़ें,
नेह-नवनीत भरी गगरी न फोड़ूंगी मैं,
आँखों से अँगारे चाहे फोड़ने मुझे पड़ें ॥

रूप की अनूप आभा आपकी अमन्द अति,
पूनम का चन्द मन्द सुना शरमिन्द सा,
मन्द–मन्द–सी हसन दशन दाड़िम द्युति,
सरस अधर मुख लसे अरविन्द-सा।

केशों का कलाप सुना आपका मिलिन्द-ऐसा,
कीला आपने बताया कालिया फनिन्द-सा.
बल में, विवेक में, विचार में, विहार में,
बताया जग में न जन दूसरा गोविन्द-सा ॥

आपके गुणों से बँधा मेरा मन-मृग अब,
और कहाँ जाये नाथ, ठौर बतलाइये,
मनने गोपाल गहा, भाई शिशुपाल कहै,
नाथ, प्रण–पालने में हाथ आ बँटाइये।

पापियों के पाले पड़ी, प्राण पालूं, प्रण नहीं,
प्रण पालूं प्राण नहीं, प्रीति को पुगाइये,
सुना आपका है प्रण, प्रणत-प्रपाल प्रभो
प्रीति के हो पारखी तो देर न लगाइये ॥

होती है अनीति घोर, नीति के निबाहने को,
नाथ, आपने ये धरा नर-अवतार है,
दीन, हीन, दुःखियों पै कन्याओं, सुरभियों पै,
देखा आपसे न जाता कभी अत्याचार है।

वसुधा का भार कभी आपसे सहा न जाता,
अच्छा लगता न कभी पाप का प्रचार है,
आज फिर आपके ये होते होगा अत्याचार,
दुःख देता वारवार मुझे ये विचार है॥

तृण के समान प्राण दे के प्यारा प्रण रखूँ,
प्रण और प्राणों का तो त्राण आप कीजिये,
जनम जनम को मैं चेरी चरणों की रहूँ,
शरण गही है नाथ, हाथ गह लीजिये।

मोम-से वताये तुम कोमल हृदय अति,
मेरी गर्म आहों से भी कुछ तो पसीजिये,
तुम हो दयालु, दीनबंधु, दयासिंधु, एक,
दया की लहर इस ओर मार दीजिये॥

भले पट्टरानी का पटा न मेरे भाल पट्ट,
बीच लिखा होवे, तुच्छ चेरी बन जाऊँगी,
सौ-सौ पट्टरानियों से सुखी सौगुनी मैं हूँगी,
दासियों की दासी बन सभी भर पाऊँगी।

जिसमें सुखी हों आप वही सेवा स्वीकारूँगी,
छोटे-मोटे सभी भार सिर पै उठाऊँगी,
पद-परिचारिका का पद भी मिले न चाहे,
पर, जग में तो दासी बड़े की कहाऊँगी॥

क्रूर भी नहीं हूँ और कायर भी नहीं हूँ मैं,
वीर-कुल-वाला वीरता के भावों भरी हूँ,
सिंह–अनुगामिनी हो देखना दिखाऊँ हाथ,
समर में हाथियों को सिंहनी क्या खरी हूँ।

सारथी बनूँगी, रथ हाँकूँगी प्रवीणतासे,
आप यदि केवट तो मैं भी एक तरी हूँ,
बाधा नहीं डालूँगी तुम्हारे महा कर्मों में मैं,
अनुगामिनी हूँ एक सच्ची अनुचरी हूँ॥

अल्प लिखित यह बहुत-बहुत हित मानिये,
शरणागत की पीर महा पहचानिये।
लिखना था लिख चुकी न अब कुछ शेष है,
अब दर्शनके हेतु प्राण अवशेष है॥

जन्म-जन्म किंकरी आपकी रुक्मिणी,"
लिख कर थामी कलम हृदय पीड़ा बनी।
बुला पुरोहित कहा—"देव, ले जाइये,
होवे जितना शीघ्र पत्र पहुँचाइये॥

वृत्त यहाँ के बता उन्हें सब दीजिये,
विप्र, बचा मम प्राण, पुण्य, यश लीजिये।"
लिया पत्र वह हाथ, विप्र प्रस्तुत हुआ,
हृदय दिव्य वैद्युतिक शक्ति संयुत हुआ॥

चला द्वारका—ओर विप्र त्वर तीर-सा,
ले वह शुभ संवाद अर्घ्य के नीर-सा ।

द्विजने उदधि उदार सहज अभिरामको,
अर्द्ध निशा गत पत्र दिया जा श्यामको ।
उधर दिया संदेश, इधर मनकी दशा,
हुई रुक्मिणी विकल, विरह-वर्द्धित नशा ॥

दीना निपट-नितान्त निराश्रित पर-वशा,
रोता कोई विकल यथा खाकर कशा ।
पल-पल जोती बाट द्वारका-ओर की,
निकट कुपरिणय-घटी, न सुध चित-चोरकी ॥

चढ़ी हर्म्यके शिखर, विकल हो उन्मनी,
पूर्ण पूर्णिमा-चन्द्र-छटा छिटकी घनी ।
शान्त समुज्ज्वल रात सुधा बरसा रही,
हरित द्रुमों पर नवल नेह सरसा रही ॥

शीत सुवासित साँस निशा है ले रही,
यह अँधियारी रात प्रखर द्रु दे रही !
रजत निशामें स्वर्ण कलश हैं चमकते,
भू के-से नक्षत्र दीप्ति-मय दमकते ॥

उच्च धवल वर भवन खड़े सब शान्त-से,
लेते हैं विश्राम दिवसके श्रान्त-से।
शनैः शनैः विधु चरण बढ़ाता आरहा,
उठ प्राचीसे ठीक प्रतीची जारहा॥

यह हलकारा नित्य डाक है डालता,
प्रकृति-पुरुषके बीच नियम निज पालता।
दी चकवेने हूक एक उस कालमें,
उठी लहरियाँ अमित महा नभ-तालमें॥

दी चकवीने तोड़ स्व प्रत्याघातसे,
भँवर बन गया गगन विकल रव-वातसे।
ले चकवीका हृदय विकल बाला हुई,
शुभ्र ज्योत्स्ना उसे एक ज्वाला हुई॥

द्विजराज दूत

अरे सुधाकर, यों न फेंक अंगार तू,
मृतकों पर यों निर्दय, कर न प्रहार तू।
हँस-हँस कर ये छिड़क न गरल-फुँहार तू,
सोम, कहाता अरे! सुधा-भंडार तू॥

प्रकृति-वधूका लिये सँदेशा जा रहा,
परम पुरुषके पास—वेष बतला रहा।
काला थैला दबा हुआ तव कक्षमें,
है कुछ रिक्त स्थान बता, तव वक्षमें?

लेता जा संदेश विरहिनी का वहाँ,
पश्चिम दिशि में तुझे पहुँचना है जहाँ।
तेरे पूज्य पिता का जो शुचि द्वार है,
जहाँ द्वारका पुरी बसी विस्तार है॥

उसी पुरी में श्याम वपुष घनश्याम है,
जो इस जीवन का नितान्त विश्राम है।
हे मयंक, पर-कार्य सुजन ही सारते,
देकर निज सर्वस्व अधीन उबारते॥

दुखियों का वृत्तान्त दुखी जन जानते,
सुखिया किसका कष्ट कहाँ पहचानते?
शत्रु तुम्हारा राहु नितान्त कराल है,
देख, मुझे भी ग्रसन-हेतु शिशुपाल है॥

कालकूट है बंधु तुम्हारा जो वहाँ,
माँ का जाया रुक्म गरल से कम यहाँ?
तू छाती में दाग़ लिये है फिर रहा,
अरे! आग जल रही वक्ष में नित यहाँ॥

तेरे जन्मी साथ वारुणी जो कड़ी,
मेरे जन्मी साथ विरह-विपदा बड़ी।
सागर-कन्या मान चन्द्रवर, तू मुझे,
भगिनी-नाते ढूँढ़ श्याम 'वर' तू मुझे॥

धर्म-बंधुता निभा आज द्विजराज तू,
प्राण बचाले, मिला मुझे व्रज-राज तू।
तू पहुँचेगा प्रात द्वारका-धाम में,
लेना उनको खोज, कहीं विश्राममें ॥

तू इस मेरे वदन सदृश होना वहाँ,
विरस, विरल, उच्छ्वास भरा रोना वहाँ।
ओढ़े होंगे पीत वसन वे रेशमी,
तन्तु-तन्तु में तू भर देना निज नमी ॥

स्वप्न उठें वे देख किंकरी का कहीं,
तुझे मलिन अवलोक, रुकेंगे वे नहीं।
बड़े सदय हैं और विचक्षण भी बने,
अन्तर्यामी सदा स्नेह-रस में सने ॥

वे निज अपलक श्याम सुनेत्रोंसे तुझे,
देखेंगे भर प्रेम, जान कुछ-कुछ मुझे।
हो जायें जब सजल नेत्र वे देखते,
अपने उर पर भाव विविध वर रेखते ॥

शनैः शनैः तुम मिट जाना आकाशमें,
देंगे उत्तर एक तुझे उच्छ्वासमें।
विधुवर, मेरा एक यही बस कार्य है,
जो तुझको सब भान्ति सदा अनिवार्य है ॥

करके जब मम कार्य, उगेगा तू नया,
होकर निर्मल-परम पुजेगा तू नया।
अर्पूंगी मैं माल भावनाकी तुझे,
दूँगी चर्चन चार चर्चनाकी तुझे ॥"

कहते यों संदेश बीत आधी गई,
नींद-भारसे, बाट-थकीँ आँखें नईँ।
चन्द्र विसर वह चन्द्र-मुखी निद्रित हुई,
चारु चन्द्रिका ओढ़ परम विलसित हुई ॥

क्षीर-सिंधुमें स्वर्णिम शफरी-सी पड़ी,
मकर-ध्वजकी लसित पताका-सी बड़ी।
लहराती वह पवन परस नव चूँदड़ी,
खगपति की-सी छाँह सिंधु-जलमें पड़ी ॥

स्वप्न-सृष्टिमें मिली श्यामसे सुन्दरी,
मान रही उर मोद विविध भावों भरी।
यही दशा उस ओर हुई घनश्यामकी,
पा द्विजसे संदेश, याद कर वामकी ॥

काटी जिस विधि रात श्याम ही जानते,
प्रेम-पारखी, प्रेम खूब पहचानते।
रत्न-खचित नव जातरूप पर्यंकसे,—
उठ बैठे—नवनलिन नयन हृत् शंक-से ॥

मुख-मंडल पर पड़ीं नितान्त मुकुंदके,
चन्द्र-मयूखें, विरह-धौत यदु-चंदके ।
श्याम गात्रकी लसी छटा उस काल यों,
मलय-विलेपित मरकत कलश रसाल ज्यों ॥

पद्मेक्षणने लखा जहाँ रजनीशको,
सोच रुक्मिणी-दशा, डुलाया शीशको ।
रुके न हा! हा! अश्रु विरहके तापसे,
बेसुध कुछ क्षण हुए श्याम आः आपसे ॥

छोड़ एक निःश्वास, श्यामने कह दिया,
विधुको हार्दिक वृत्त—हुआ शीतल हिया ।
अस्तंगत अभिवदन चन्द्र विनमित हुआ,
लख हरि-लोचन सरस परम हर्षित हुआ ॥

सज्जन पर-हित साध मुदित होते सदा,
साधु जनोंका जन्म जगत-हित सर्वदा ।
यद्यपि देखा रूप रुक्मिणी का नहीं,
पत्र-मुकुरमें बिम्ब झलक पाया सही ॥

वार-बार पढ़ पत्र उफनते नेत्र हैं,
उर पर मानों पड़े सहस्रों वेत्र हैं ।
"एकाकी चल पड़ूं कि लूँ बल साथमें?"
पत्र हाथमें, पर न हृदय अब हाथमें ॥

जातरूप वा रूप, हर्म्य कब देखते ?
महाभाव सद्भाव एक ही लेखते ।
प्रात कर्ममें निरत हुए घनश्याम जब,
मंत्रों बदले स्फुरित हुए वे शब्द सब ॥

प्राण प्रिया की सरस लेखनीके लिखे,
हुए गोदने वर्ण रुक्मिणी के लिखे ।
विनियोगोंका स्थान लिया दृग-नीरने,
उलँघा अपना तीर आज निस्तीरने ॥

पूरित कर नित कर्म किसी विध हरि वहाँ,
राज भवनमें गये आर्यवर थे जहाँ ।
सकल सभासद 'भद्र' सहित यों लस रहे,
पद्माकरमें पद्म प्रात ज्यों हँस रहे ॥

रविकी किरणें परस धवल दशनावली,
शीतल, मंद, सुगंध पवन वचनावली ।
सरस हास्य, आमोद-प्रमोद सुवीचियाँ,
छूतीं जिनको राम महाभ-मरीचियाँ ॥

जा पहुँचे तत्काल श्याम ले पत्रिका,
मुक्ति-प्रदायक-बद्ध-कारिणी यंत्रिका ।
परम तृषित गजराज निदाघाकुल यथा,
आया सरके तीर मिटाने निज व्यथा ॥

अतिशय चंड समीर-समीरित जलद-से,—
हिम-गिरि-कुक्षि गभीर सदसिमें हरि घुसे।
राम-पार्श्वमें वसित श्याम विलसित हुए,
मर्कत कञ्चन ग्रथित सहज दर्शित हुए॥

सकल सभासद स्तब्ध, कृष्ण चुपचाप हैं,
जापकका कर रहा जाप्य खुद जाप है।
चट-से कंचन कमल सरस अस्फुट डुला,
शब्द-सुरभि-मय राम-अधर-संपुट खुला॥

"आज कुंदकी कलियां क्यों बँद? युगल कमल मुझाए!
किस ग्रहसे हो रहा ग्रहित उर, यों न कभी दिखलाये?
दामोदर! क्या तुम्हें हो गया, भैया! मुझे बताओ?
कौन भावना पैठी उरमें, मुझको साथ मिलाओ?

इन दृग—अरुणिम रेखाओंमें दुष्ट-विदलना नचती,
श्याम सरस इन पुत्तलियोंमें प्रेम-प्रवणता सँचती।
कौन भाग्य शालिनी कि जिसने आसन यहाँ जमाया?
कौन जापिका जगत-जाप्यसे जिसने जपन कराया?

किस दुखियाकी करुण आह ने यह सागर उफनाया?
किस चिनगारीने रे! रे! यह तुहिनाचल सुलगाया?
किस संसिद्धा अँगुलीने यह हृत्-तंत्री झनकारी?
किसने दिव्य अमोघ मंत्रकी मोहन कँकरी मारी?

गानभद्रने कृष्णचन्द्रका मानो मन पढ़ डाला,
दक्ष वैद्यने सुई नोकसे फोड़ दिया ज्यों छाला ।
प्रात कालका पवन परस ज्यों पाकर पद्म विकसता,
भ्रमर-मोहिका सुरभि प्रसारण कर ज्यों रह-रह हँसता ॥

सकल सभाको हर्षित करते हँसे श्याम आँखोंमें,
ओष्ठ-पुटोंमें लसे, सुमौक्तिक ज्यों प्रवाल-शाखोंमें ।
आर्य-चरण-कमलोंमें रखदी प्रणय-पत्रिका नीकी,
जिसके अक्षर-अक्षरकी थी वेधक धार सुतीखी ॥

अति विस्मय से, परम हर्ष से, अमित चाव से लेकर,
खोल पढ़ी वह सजल पत्रिका हर्ष बूँद दे-देकर ।
श्री बलराम हुए अति आतुर सोच दशा कन्या की,
कृष्ण-प्रणयिनी, परम पावनी, अजवन्या धन्याकी ॥

प्रबल प्रयाण

पढ़ शिशुपाल-वृत्त नेत्र लाल हो गये,
जो थे, पद्म, इसी क्षण वे मशाल हो गये ।
ओष्ठ दंश कर सर्प-समा फूतकार दी,
मानो नाग-पुच्छ पै किसीने लात मार दी ॥

हँसे क्रोध-युक्त छोड़ वक्ष-रोध श्वास को,
मानो रुद्र समुद्यत विश्व के विनाश को ।
बोले—" यह वेद-शाखा श्वपच ले जायेंगे ?
तुलसी की मंजरी को गर्दभ चबायेंगे ?

देव-पुष्प-माला को ये डोम गले डालेंगे ?
अर्णवात्मजा को ये असुर आज पा लेंगे ?
वृष्णि-वंशियों के होते दैत्य-दर्प पलेगा ?
गोपाल के होते गो-गले कुठार चलेगा ?

हरि-रमणी की ओर कौन स्यार ताकेगा ?
फणिनी को कोई व्यर्थ मणि-हार ताकेगा।
वीरो ! वृष्णि-वंशियो ! सजाओ साज रण के,
दैत्य-दर्प-दलन के, रुक्मिणी-हरण के ॥

देख लेंगे शिशुपाल के महान बल को,
खल के अपार साथियों के खल-दल को।"
कृष्ण-भाव-भार सब बंधु ने उठा लिया,
संकोची छोटों की आती गुरुजनों पै क्रिया ॥

सुनकर वीरों के दृगों उछाह छलका,
वीर-वरातियों का हृदय अहा ! ललका।
वीर खाँसें होने लगीं, मूछें पनने लगीं,
समर-सुरा के ध्यान आँखें जलने लगीं ॥

वीर-रस-सागर तरंगें मारने लगा,
मुंड-माली जीर्ण माला आज वारने लगा।
सर्व सम्मतिसे वह समिति अमिति-सी,
चलन प्रस्तुति-मिति करके नियति-सी ॥

"जय राम-कृष्ण" नाद देवोंको सुनाती-सी,
उठी वीर-मंडली भवानीको हँसाती-सी।
रात भर द्वारका उफनती-सी हो रही,
वीरोंकी बरात सारी रात सजती रही॥

होते ही प्रभात बस द्वारकाके द्वार पे,
डटी चतुरंगिणी आ चलन-विचार पे।
दोनों बंधु रथासीन वीर-वेषको धरे,
क्यों न हौंसें अस्त्र ये 'अशेष,' 'शेष'को धरे?

पीछे बहु रथों-स्थित शूर सधे हुए हैं,
सकवच गात्र शस्त्र, अस्त्रों लदे हुए हैं।
लोहित रथोंकी छटा जीभ कालिकाकी-सी,
आतुर हुई है खल-रक्तकी पिपासी-सी॥

वाजि वर टिकते न, शीघ्रता जताते हैं,
वीरोंके ये पशु भी तो वीरतामें माते हैं।
मदकल कुंजरोंकी घोर घटा झूलती,
काली अँधियारी जैसे चली आती ऊलती॥

अति वेगवती चढ़ी वाहिनी तुरंगोंकी,
छटा देखनेके योग्य तल्वार-तरंगोंकी।
चर्म-चय-बुद्बुद हैं फेन कवचोंके हैं,
ह्रेषा 'कल कल' नाद, तृण नेजा-नोकें हैं॥

पीछे पदातिकोंकी है दावानल-सी जली,
चौमुखी यों मृत्यु कढ़ खल-दल पै चली।
चमूके प्रयाणके सुवाद्य वजने लगे,
अश्व हींसने लगे औ गज गर्जने लगे ॥

चढ़ीं रम्य हर्म्योपर देखतीं रमणियाँ,
गीत गातीं मांगलिक दे-दे हर्ष-कणियाँ।
सारे शुभ शकुन, शकुन देनेके लिये,
दीख पड़े ठौर-ठौर रज लेनेके लिये ॥

दृष्टिके ओझल हुई सेना एक क्षणमें।
विजयकी ध्वनि सुन पड़ी कण-कणमें ॥

* * *

जमे नाना राग-रंग भीष्मक—भवनमें,
गीत गातीं कामिनियाँ सदन—सदनमें।
फूलोंसे, दलोंसे पुर-द्वार, वीथियाँ वनीं,
परिणय—मंडप की बँधी घरमें तनी ॥

चेदिराजकी ही श्लाघा प्रतिमुख हो रही,
कृष्ण का न नाम सुन, बाला छिपी रो रही।
सोच रही रुक्मिणी यों "हायरे! न द्विज भी,
लेकर सँदेश लौटा द्वारकासे ही अभी ॥

पढ़, फाड़ डाली होगी चिट्ठी घनश्यामने,
करके उपेक्षा, उस बहु गुण—धामने ।
अश्वत्थके साथ सदा तुलसी ही सोहती,
मैं हूँ कोरी कंटकारी कैसे उसे मोहती ?

कल्पतरुका सँजोग क्यों गिलोय पा सके ?
भिल्ल—बाला इन्द्र—भामिनी के भोग पा सके ?
गुण—हीना तंत्री कैसे गुणी पास जा सके ?
कान्त मणि विना कौन चन्द्र पिघला सके ?

यह देह तो हे नाथ ! चढ़ तुम पै चुकी,
तन तजके मिलूँगी" वाणी ज्योंकी त्यों रुकी ।
काष्ठ हुई काया, दृग तर—तर बहते,
ओष्ठ कुछ काँपतें-से जाने क्या हैं कहते ?

"एक प्रतिमाकी नाथ, पूजा सभी करते,
राजा-रंक यथाशक्ति भेटें आगे धरते ।
चढ़ती अशरफियाँ और दमड़ियाँ भी,
फूटी कौड़ियाँ भी न लौटाई जाती हैं कभी ॥

फिर यह कौड़ी क्यों लौटाई आज जाती है ?
तुम तो प्रत्यक्ष देव, फटती यों छाती है ?
अधर—प्रकम्पन यों कह बन्द हो गया,
अन्तर में लीन हुई बाह्य ज्ञान खो गया ॥

बैठी जैसे दुष्यन्तके ध्यानमें शकुन्तला,
मूर्त्ति बनी बैठी हो ज्यों चित्रकारकी कला।
राघवके ध्यान ज्यों अशोक–वासिनी सती,
जनक—दुलारी यह दूसरी है फबती ॥

आया विप्र उसी क्षण अंजनि-कुमार-सा,
म्रियमाण-मुखमें चुआता सुधा-सार-सा।
हारे हुए व्यापारीके अनुकूल तार-सा,
अतुलित जलधिमें डूबतेको पार-सा ॥

" बाई, बाई " झरा विप्र अमृत-फुँहार-सा,
आँखें खोलीं, देखा, खड़ा, हृत-उपचार-सा।
विप्रके वदन देखी मुदिताकी छाप-सी,
एक साथ उरकी उतर गई ताप-सी ॥

आँखोंने आँखोंमें पढ़ लिया वृत्त आँखोंका,
ओझे ने ज्यों झाड़ दिया गुच्छा मोर-पाँखोंका।
उपकृता, भार-नता, आर्द्रिता सुशाखा-सी,
विप्रके पदोंमें झुकी काँपती पताका-सी ॥

शुद्ध चित्त जन ही हैं कृत-भार मानते,
प्रति उपकारमें वे प्राण-मान वारते।
विप्र बोला—" राज-कन्ये! सफला तू हो गई,
मरु-धरे! मेघ आया, सजला तू हो गई ॥

तेरी पत्रिका के मंत्र ने न जाने क्या किया ?
सुध-बुध हीन द्वारकेश को बना दिया।
पत्रिका को एरी ! बार-बार उसने पढ़ा,
आँखों में मैं देखता था, नशा उसके चढ़ा॥

इतना वैभव-शाली, वसुधा का इन्द्र-सा !
ज्येष्ठ बंधु 'भद्र' मिला, जिसको फणीन्द्र-सा।
इतना ब्रह्मण्य वह ! मुझे आया जान के,
अतिथि स्वरूप देव विप्र पहचान के॥

आँगण-शिलाओं को चरण-तलों रँगता—
अरुणित आभा से—संभ्रम भाव नमता।
झुक गया पदों में सुकेशी, मोर मुकुटी !
धूलि-सनी सोही क्याही, नाशिका औ भृकुटी॥

बिक गया देवि, मैं तो उसके विनय पै,
मोर के मुकुट और रूप-मय वय पै।
चाहा, झुक जाऊं पदों, जीवन को जीतलूं,
आज इस प्रेमी को मैं प्रेम-दामों क्रीत लूँ॥

वर्ण के विचार ने न ऐसा करने दिया,
बार—बार रो रहा है अब भी मेरा हिया।
धन्य देवि, तू ने ऐसा वर जीत जो लिया,
आया मेरे साथ वह, हरा तुझको हिया॥

रुक्मिणी के उर-दीप घृत ढल-सा गया,
आँखों में सुतेज आया, तम टल-सा गया।
वृद्ध विप्र के सँकोच कुछ नहीं बोलती,
पर, आँखें और भी संदेश हैं टटोलतीं॥

विप्र बोला बाई, वह सेना साथ लाया है,
वीर रसोन्मत्त ज्येष्ठ बंधु साथ आया है।
यदि ठना युद्ध तो वे हाथ हैं दो कालके,
रूप में मराल-से वे मानसर ताल के॥

उत्फुल्लित मुख, कंज वे बिना सेंवाल के,
वसुधा के कँठले-से मर्कत–प्रवालके
मैंने सर्व वृत्त वासुदेव को सुझा दिया,
'अम्बिका-पूजन-वेला, मान उन्होंने लिया॥

कल प्रातः काल देवि, शिशुपाल रोयेगा,
साथियों की मिथ्या सान्त्वना से मुख धोयेगा।
उच्चाटित चित्त रुक्मिणी का शान्त होगया,
कान्त-वृत्त सुन मुख शशि-कान्त होगया॥

हीरकों का हार कंठ से उतार दे दिया,
उपकृता नता ने सुआशीर्वाद ले लिया॥

* * *

प्रात-काल हुआ, हंसिनी सिंगारी जाती है,
रेशम की साड़ी पे सजी किनारी जाती है।
हरिणी की आँखों में काजल दिया जाता है,
चन्द्रमा पे केशर का लेप किया जाता है॥

अरुणित कंज अंगराग रँगे जाते हैं,
काले सटकारे स्नेह की खुराक पाते हैं।
दीप-शिखा अभ्रक से आवृत्त की जाती है,
रुक्म-मयी वेत्र मोतियों से जड़ी जाती है॥

अर्चनेको देव आरती—सी सजी जाती है,
चर्चनेको, केशर, कपूर—योग पाती है।
सखियोंसे रुक्मिणी सिंगारी गई सर्वथा,
अम्बिकाके पूजनकी पूर्ण करने प्रथा॥

रूप इतना बढ़ा कि रति विम्बिता बनी,
रोम—रोममें से जाती तेजकी छटा छनी।
सौवर्णिक थालोंमें सजाई पुष्प—मालाएँ,
केशर, कपूर, धूप, दीप, दीप्त ज्वालाएँ॥

आगे पीछे लेके चली, विप्र—नारियाँ बनी,
बीचमें वैदर्भी सजी, जाती रश्मियाँ छनी॥
गीत गाती मांगालिक—भावनाओंसे भरे,
माँगती देवीसे वरदान वे हरे—भरे॥

झाँकती झरोखोंमेंसे पुरकी रमणियाँ,
हर्षकीं सभीके छाई आँखों बीच कणियाँ।
मेनका नाइन बन चँवर डुलाती है,
जलका कलश लिए रम्भा गाती जाती है॥

तेलिन, तम्बोलिन, कुम्हारिन के रूप में,
देव-अंगनाएँ चलीं साथ कड़ी धूपमें।
सेना शिशुपाल की के, बीचों बीच वे गई,
सैनिकों के मनों पै सुधा-सी सींच वे गईं॥

पहुँची वे भामिनियाँ भवानी-भवन में,
कूजती कुहूकिनी-सी कल उपवन में।
सप्त सुभगा सुहागिनों से इंगिता हुई,
राज-कन्या अम्बा पूजने के प्रेरिता हुई,

काँपते-से कमलों में जल का कलश ले,
पद धोये अम्बिका के भावना सरस ले।
केशर-कपूर दिया अक्षत सुभाल में
पुष्प-माला पहनाई कंठ सुविशाल में॥

एक विप्र-योषिता ने रुक्मिणी के भालमें,
रोचन की रेखा सारी साक्षत, विशाल में।
अम्बिका की प्रतिमा-सी लगी वह भासने,
कौतुक-सा रच दिया रूप के विकास ने॥

हुई समाहिता तब एक विप्रा वृद्धासे,
रुक्मिणीने हाथ जोड़ अम्बा आगे श्रद्धासे।
प्रार्थनामें लीन हुई बंद कर आँखोंको,
चल अलि वर्गने समेट लिया पाँखोंको॥

"माँ, मैं तेरे पद—कमलोंमें नत होती हूँ,
मानसकी कणिकोंसे पाद—पद्म धोती हूँ।
जगत—जननि अहे! दयामयि!! तारिणी!!!
तारो माँ! स्वदासीको, हे विपद—निवारिणी!

पूरो चेरी—कामनाको पूर्ण! जन-पालिनी!
दे के वरदान 'वर' करो भाग्य-शालिनी।
पूजूँगी तुम्हारे पाद—पद्म, पुजवाऊँगी,
मेरी आशा—झोली भरो, कीरति फैलाऊँगी॥"

रुक्मिणीके हृदयमें देवी—भाव आगया,
अम्बिका का पूर्ण तेज रोम-रोम छागया।
कंठ अवरोध हुआ, वाणी बंद हो गई,
स्वाति—बुँद पाकर ज्यों शुक्ति तलको गई।

देवी—प्रतिमामें भी सुहास—भासने लगा,
देव्यालय दिव्य प्रभतासे काशने लगा।
हुई जब प्रकृतिस्था, चढ़ा रत्नमालाको,
पीछे पदों लौटी बाला, झुक देवी—ज्वालाको।

*　　　*　　　*

अम्बिका–भवनसे बाहर आई रुक्मिणी,
कांचनकी कांचीकी है क्वणित सुकिंकिणी।
तन भूषणोंसे दबा, मन भाव–भारोंसे,
पग, दृग उठते न, सत्रप विचारोंसे ॥

मानो कंटकित मही, ऐसे धीरे चलती,
पदोंमें पड़े हैं छाले ठेससे है टलती।
वह देखो दूरी पर आता स्वर्ण–आभ रथ,
दारुकके सारथ्यमें, किये ज्योतिर्मय पथ ॥

रथमें है स्थित कौन? नव वधूका प्रतीक्ष्य,
नेत्र मात्रको है जो कि सदा–सर्वदा निरीक्ष्य।
शैव्य, मेघपुष्प, बलाहक अश्व चार हैं,
सुग्रीव समेत जुते, वेगमें अपार हैं ॥

रजत-से स्फटिक-से, शुक्ति-से, हिमानी-से,
देखो बहे आते कैसे, पर्वतीय पानी-से।
दारुक ने रोके, खींच प्रग्रह को बल से,
चपल तुरंग, पल टिकते न जल-से ॥

शिशुपाल-सेना सह सेनानी जके वहाँ,
कोई देखता हयों को, कोई ताकता यहाँ।
रुक्मिणी के रूप-मंत्र, मंत्रित-से हो रहे,
मोहन-की यंत्रिका से यंत्रित-से हो रहे ॥

ग्रीवा नत किये चली, कल हंस गामिनी,
दिव्य दीप्ति दमकाती धरा की सौदामिनी।
सरक आई है कुछ स्निग्ध अलकावली,
अमल अपांगों पर, नव भ्रमरावली॥

जंगम लता-सी सोही आभूषिता रुक्मिणी।
कर्णधार-हीना तरणी-सी लसी तरुणी।
मनोरथ-मारुत-झकोरों से झकुलती,
आन्दोलक-हीना प्रेंखा के समान डुलती॥

लोचनोंमें विश्वका विलोचन पड़ा जभी,
निष्प्राणाके प्राणों प्राण लौट—से आये तभी।
रथके निकट स्थित, बाँधे पट केशरी,—
कटिमें—सुशोभित है, जैसे नव केसरी॥

कन्दुकके गोपनको ज्यों खिलाड़ी है खड़ा,
प्रतिपक्षियोंको देने पराजयको, अड़ा।
गई रथके समीप, गहा पाणि पाणिसे,
चक्र चढ़, रथ चढ़ी शीघ्र चक्र-पाणिसे॥

हुआ पाणि-ग्रहण यों देव साक्ष्यमें सही,
नभसे सुरोंने सुमनोंसे पूरदी मही।
पलक—पतनमें तो देर भी लगे कहीं!
पर, वाजियोंको बाजी जीतते लगी नहीं॥

धूलि फेंकते-से गये बैरियोंके व्रतों पै,
नौन-सा छिड़क गये स्यालकके क्षतों पै।
इन्द्रसे छीनी थी सुधा गरुड़ ने ज्यों कभी,
गरुड़-गामीने छीनी रुक्मिणीको त्यों अभी॥

सप्तम अंग

पंक-पेट-परिभेदन करके पंकज पैदा होता,
अन्तह तपन-संतप्त भू का ताप गगन-तल खोता।
हृदय-धधकती ग्रिष्म अनलको अश्रु बुझाने आते,
किसी एक अज्ञात हाथसे होता हम कुछ पाते ॥

स्वयं नियम वह, और नियम ये उससे यंत्रित सारे,
उसी धुरीपर घूम रहे हैं नियम विवश बेचारे।
अन्तर्हित सावरण कौतुकी, वह विनोद-रत्नाकर,
घोर हलाहल, सरस सुधाकर वह अमिताभ-प्रभाकर ॥

उसके किंचित् स्मितमें करते वर्षण घन पीयूषी,
उसके पलक-पतनमें होती विप वेला प्रत्यूषी।
जब यह जगती घोर तमिस्रासे आवृत हो जाती,
होता दिव्य प्रकाश प्रकट झट चीर इसीकी छाती ॥

जब जगतीकी छातीपर थे गर्ज रहे घन काले,
पड़े हुए थे मान, प्राण, धन-धाम, धर्म के लाले।
कोटि प्रकाशोंका प्रकाश वह महा काल कलुषोंका,
दिव्य दीप्ति-मय स्वर्ण-सलिल वह धर्म-धाम-कलशोंका ॥

अमृत-कलश-सम निकला जो उस मद-मूर्छित वेलामें,
सहस्रार्चि-सम उदित हुआ जो तम-विदलित वेला में।
उसी महाप्रभ प्रखर रश्मि-माली की छू गुण-माला,
कवि की कुंठित कलम बन चले एक प्रखर तर भाला ॥

भौमासुर-वध

प्राग्ज्योतिप के महा विवर में भौम—भुजंगम भारी,
जिसकी फूत्कारों से वसुधा हुई विषाक्ता सारी ।
चन्दन-चर्चित भाल हाय ! भूपाल डाल कारा में,
केलि-किलोलें करता खल नित पर—दारा—धारामें ॥

विपुल विलासी, सर्वाशी वह महा श्येन असि-धारी,
चंचु-चोट से चटकाएँ थी विकला जिससे सारी,
भ्रू-विपात के भय से भूधर काँपा करते थर्थर,
भू—सुर-वाणी वह्नि बुझी थी, सूख चले मख-सरवर ॥

प्रजा-पसीने की समर्जिता सम्पति का वह स्वामी,
दुखी चींख सुनता न किसीकी, हुआ वधिर अति कामी।
सत्य, न्याय, नय, सदाचार को रहा कहीं न ठिकाना,
दाँत दिखाते दीन घूमते, करते दाना—दाना ॥

सद्य-जात शिशुओं का पेट न पलता माँके पय से,
सद्य प्रसूताओं के कोमल गात ग्रसित क्षुत-क्षय से।
कुल-ललनाएँ भूखी सोतीं, आर्द्र दृगों से उठतीं,
असियों की छाया में सतियों की लज्जाएँ लुटतीं ॥

श्रमिकों और किसानों के पल्ले में श्रम ही पड़ता,
उनका गाढ़ पसीना जाकर कोषों में ही सड़ता ।
प्रासादों में नर्तकियों की नव नूपुर झंकारें,
रुदन कर रही थी जिनमें जनता की दुखी पुकारें ॥

कृषक-वृन्द का पशु-धन तो भूखा ही दिवस बिताये,
पर, सेना का विपुल वाजि-दल रह-रह कर हींसाये।
मेघ—सर्गर्वी गर्जन करतीं धनुषों की टंकारें,
दीन जनों की आहें जिनमें भरती थीं हुंकारें॥

हीरक, हेम-जटित हर्म्यों की नित-नव निर्मिति होती,
एक हर्म्य पर कितनी झोंपड़ियों की मिति इति होती।
दुर्गम दुर्गों की रचना पर ध्यान तुला ही रहता,
सेना के संवर्द्धन को धन-कोष खुला ही रहता॥

प्रासादों के वातायन—दिशि प्रजा न वसने पाती,
दीन-दुःखितों के श्वासों की गंध न उसे सुहाती।
कृषकों की कुटिया में दीप दिवाली को ही जलते,
उसके फानूसों में दीपक हँस-हँस रंग बदलते॥

क्या मजाल जो कोई शासन-विषयक बात चलाले,
सिले हुए थे होठ सभी के पड़े हुए थे ताले।
कवियों की कवितामें कोई और विषय आजाये?
भूल—चूक यदि आजाये तो कलम छीनली जाये॥

इतना संयत शासन जिसकी गंध न बाहर जाती,
पवन जहां की भी छन—छनकर आने जाने पाती।
दो ही वर्ग रहे शासन में—एक कमाने वाला,
श्रमित, नमित, नित क्षुधित, क्षयित-सा दिवस बिताने वाला॥

और दूसरा राज्य-वर्ग जो नित-नव भोग-विलासी,
जिसकी सबल शिराएँ रहती प्रजा रक्त की प्यासी ।
भौमासुर ने निज माताको माता-तुल्य न पाला,
उस पार्थिव ने पृथ्वी को रे ! बना पुंश्चली डाला ॥

वसुधा घुट—घुट कर रोती है किसको रुदन सुनाये,
कोई पलकों पर पति हो तो—किसको हृदय दिखाये ?

* * *

नगर—कोट दृढ़ धरा-धरों का, विहग लाँघ क्या जाये ?
शूर सैनिकों की सुरक्षणा देख हृदय दहलाये ।
षोडश सहस शतोत्तर राज-कुमारी आः कमलनियां,
इस मदकलने रति—हित, रोकीं अलियां और तितलियां ॥

इस धीमर के महा जालमें लेती साँस सफरियां,
नहीं सूखते आँसू पल भी, बँधती नहीं कवरियां ।
थी अशोक वनमें वैदेही बनी बंदिनी जैसे,
ये सशोक वन में प्रवासिनी बनी हजारों वैसे ॥

उसके तो पीछे था शोधक दक्षिणांग बल—शाली,
जिसने रोते—रोते पूछी बन की डाली—डाली ।
दाक्षिणांग—हीना ये, इनकी कौन पूछनेवाला ?
कहां अनाथिनियों का पड़ता जग के कान कसाला ?

ये सीता-सी पावन सतियाँ बाल चंद्र-सी रेखा,
मातृ-अंक को त्याग इन्हों ने वधिक-भवन ही देखा।
सुना उन्होंने वसुधा-तल पर एक जलदवर आया,
दया-द्रवित वह लतिका-दल पर स्रवित वितरता छाया॥

सिंधु-नीर पर उसने दुर्जय, दुर्गम, दुर्ग बनाया,
दुर्मद मदकल मातंगों को जो अंकुश बन आया।
पत्र-प्रेषणा का प्रस्ताव किया सबने अति गहरा,
लिखा उसे विमला ने उर की सजल नोक पर ठहरा॥

"हे निःसीम! महा सिंधो! हे! महासिंधु-तट-वासी,
पर-हित-धनके धनिक सुने तुम पावन परम प्रयासी।
हम खगियाँ फँस रहीं जाल में, नाथ! व्याध निर्मम के।
साज सज रहा काले, देव! हमारे अब उपशम के॥

दुष्ट हमें यह नीड़ों में से पकड़-पकड़ कर लाया,
हा! कामानल में भूँजेगा यह गंगोदक-काया।
पिता हमारे साँस-हीन सब, हैं इसकी कठ पुतली,
कर्त्तन की जाती है जीभ, जहाँ, जिसने, जब उथली॥

दावानल में घिरी मेघ! हम मृगियाँ मार्ग न पातीं,
मत पूछो, हम गीली घड़ियाँ कैसे यहाँ बितातीं।
भारतीय महिलाओं का तो धन सतीत्व होता है,
आज हमारा परम धर्म वह शंकित हो रोता है॥

किसके पास उबलते हम इन साँसोंको पहुँचावें ?
यह विष-वेलित विषम वेदना किसके गल पहनावें ?
कौन हलाहल झेले, जगमें हम न रुद्र हैं पाती ?
दावानल इस सघन विपिनको भस्म बनाती आती ॥

म्लेच्छ-मर्दिता हुई मही यह आर्य-भावना-हीना,
धीर, वीर, तेजस्वी-गणकी जन्म-दायिनी दीना ।
हरण हो रही संपतिके सँग मानवता जनताकी,
मानवताके सिर पर नचतीं कृतियाँ दानवताकी ॥

हम अबलाओंकी न 'आह' अब कोई सुननेवाला,
कलिकाओंका पड़ा हुआ है मदकलके सँग पाला ।
दिन जाते हैं देव ! बनेंगी हम थालीकी रोटी,
बर्बरके जबड़ेमें होंगी—विपदा क्या यह छोटी ?

इन्हें बचालो हुतभुक् ! होमो अपनेमें जिस विध भी,
ये आहुतियाँ गर्दभ-मुखसे छीनो तो किस विध भी ।
एक न दो हम अजी ! सहस्रों, सेनाकी सेना है,
ध्यान रहे—हम प्राण तजेंगी, धर्म नहीं देना है ॥

हम बच रहती ? पर न हाय रे ! साधन कुछ पाती हैं,
मृत्यु ढूँढती—पर, न हमें वह कहीं दृष्टि आती है ।
हमें सैनिका कर लेना तुम, खानेको मत देना,
दुष्ट-विदलने का तुम हमसे काम निरन्तर लेना ॥

अपनी रोटी आप कमा हम लेंगी अपने बलसे,
जनताकी कर-करके सेवा, डुला पवन अंचलसे।
आर्य-सभ्यता मानवताका ऊँचा नाम करेंगी,
कीर्ति तुम्हारी जगती-तलमें चमकीली वितरेंगी॥

तेरे प्रसादों के नीचे सदा बुहारी देंगी,
हैं यद्यपि हम राज-कुमारी, जन-सेवा-व्रत लेंगी।
जब-जब, जैसी हम पर तेरी अनुमति-इंगिति होगी,
उससे कहीं सवाई सुन्दर हमसे शुचि कृति होगी॥

रूक्ष अशन कर सरस कार्य हम जगका सतत करेंगी,
इस जीवनकी बूँद-बूँद हम संसृति-हित वितरेंगी।
हम न वंचना करती तुमसे, सत्य-सत्य लिखती हैं,
इन्हें खरीदो किसी भाव भी सस्ते में बिकती हैं॥

पर, न हायरे! कहीं वधिक के हाथों घाली जायें,
गंगाजलियाँ कहीं न ये कर्दम में डाली जायें।
आर्य-भूमि पर एक तुम्हीं बस अबलों के आश्रय हो,
अबलाओं के हाथों के तुम जब-तब बने वलय हो॥

जिनके भाल न बिन्दी, उनके तुम सिन्दूर बने हो,
कितनी कुंकुम और केशरों के कर्पूर बने हो।
पराधीन यह जनता है संकीर्ण-भावना-बद्धा,
तुममें धर्म समन्वित, सुनती उपजी तुमसे श्रद्धा॥

दया-उदधि तुम, प्रेमार्णव हो, क्षमा-क्षीर-निधि गहरे,
तोष-पोषके पर्वत-पति तुम, धर्म-मेढ़ बन ठहरे।
कौशल-कुलके कुसुमाकर तुम रस-माधुर्य-सुधाकर,
हम क्यों आज अँधेरे में हैं ओ! अमिताभ प्रभाकर!

ओ द्वापरके दाशरथी! ये मैथिलियाँ ही जानो,
हम भी निज-निज जनक-नंदिनी, कुछ तो नाता मानो,
भूमि-रमण! हम भूमि-तनयकी रहें बन्दिनी? विस्मय!
राघवने तो सेतु बाँधकर किया हनन खल अविनय॥

तुमसे दुर्ग अजित यह होगा? धर्म न सेतु बँधेगा?
गरुड-गामि! यह बिना तुम्हारे भोगी कौन वधेगा?
अधिक लिखें क्या? इतनेमें ही उरके क्षत पहचानो,
व्रण-रोपणको चक्र सुदर्शनकी छत-छाया तानो॥

पावन चरणोंमें प्रणाम हम करतीं रुक-रुक सारी,
आशा और प्रतीक्षा ही अब जीवन-सीम हमारी।
लिखकर पत्र सुनाया सबको, सबने समुचित माना।
किसके द्वारा उन्हें प्राप्त हो, विकट प्रश्न यह जाना॥

सखी दूत

राज-कुमारी एक सुन्दरी संयुग-कला प्रवीणा,
ओज-धारिणी, भाषण-निपुणा, असियों बीच अदीना।
सत्कुलोद्भवा, पर-हित-निरता, नाम 'ह्लादिनी' पाया,
उसने उठकर काल-सम्मुखी वह बीड़ा ले खाया॥

सबकी आँखों में उछाहके जलके कण भर आये,
धन्य-धन्यके शब्द चतुर्दिक सबने उसे सुनाये।
पुरुष-वेषमें सजी सुन्दरी, बाँका युवक छबीला,
केश-जाल पर बाँधा साफा सुन्दर नया रँगीला ॥

पहन अँगरखा नीचा, बाँधी धोती श्वेत सजीली,
जोड़ा सुन्दर पहन, हाथ ली बेंत एक लचकीली।
कटि में खोंसी प्रखर कटारी, परिकर कसकर बाँधा,
सबके मनको बाँध पत्रमें, चित्त लक्ष्यपर साँधा ॥

चेतन बेंत लसी लचकीली, कलित किरण दिनकरकी,
तारकावली-मध्य लसी वह मनहर स्मिति हिमकरकी।
बीत चुकी आधी विभावरी प्रस्तुति करते-करते,
'चैं-चैं' करते निशि-चर नभमें उड़ते भीति वितरते ॥

तम-सागरमें डूबी वसुधा प्रहरी बोल रहे हैं,
चोर छिपे पग-ध्वनियाँ उनकी बैठे तोल रहे हैं।
सहज कर्ण कटु 'भों-भों' का रव श्वानोंका सुन पड़ता,
अंधकारका से तारक-दल अध्यक्ष बिनाही लड़ता ॥

मारुत तरुवरके पत्तोंका मर्मर-मारु बजाता,
अंधकारकी सेनाका वह साहस अमित बढ़ाता,
झुककर उसने सरस बिदाली, सबने शीश नवाया,
हर्ष. भीति, विस्मयके भावों सबका उर भर आया ॥

चढ़ा युवक वर रस्सा लेकर कारालय की छतपर,
" अरी मृत्यु ! चल," यह छः अक्षर लिखकर निश्चल चितपर।
पृष्ठ भागसे उतर गया वह स्फूर्त्त, शक्ति-धर, नटवर,
काल-कूपमें उतरा जीवन लानेको नव भटवर ॥

पहुँचा कितने दिवसान्तरमें वह उसकी सीमामें,
मानस डूब रहा था जिसकी तट-रहिता महिमामें।
कोसोंसे वह पड़ी दृष्टिमें नव पताकिनी नगरी,
भरी छलाछल निर्मल रससे अष्टापदकी गगरी ॥

हरित द्रुमोंके वसन सजे शुभ, चूडामणि चमकीले,
उस सुहागिनीके अँग सुन्दर छनते पीले पीले।
गया पुरीके विपुल द्वार वह तरुण शौर्य धृति-शाली,
जन-जनकी आँखोंमें देखी लहराती हरियाली ॥

सुन्दरताके सिंहासनपर तेज कर रहा शासन,
आनँद, मोद, विनोद डुलाते चँवर किसीका त्रास न,
देख युवतियाँ, उसके अँगमें छिपी यौवना फूली,
सुन्दरताके आलिंगनको आत्म-भान वह भूली ॥

गया पूछता उस प्रसाद के प्रासादोंकी श्रेनी,
गगन उठाये खड़ी शीश जो, वनकर स्वर्ग—निसेनी।
विक्रम प्रहरी संतत घूम रहा है तोरण—नीचे,
दोनों ने दोनों को देखा, गये परस्पर खींचे ॥

" क्यों जी ! भीतर जा सकता हूँ पुरुषोत्तम—दर्शनको ?
अपने जी की कहने, करने पावन इस जीवन को। "
" युवक ! कौन तुम ? और कहाँसे आये ? क्या कहना है ?
बतलाओ तो, इस सरासिज का किस सरमें रहना है ? "

बोला युवक—" कहो तुम जाकर एक 'आह' आई है,
मूक जगत से निकल, दृगोंके जल में नितराई है। "
प्रतिहारीने ज्यों के त्यों जा शब्द रख दिये आगे,
सहज चातुरी रँगी वेदना समझ, श्याम अनुरागे ॥

बोले—" उसको अब ही लाओ, सादर सत्कृत करके,
अरे ! उपस्थित कौन मधुरता, मम हृत अपहृत करके? "
द्वारपाल झुकता—सा आया, बोला—" चलिये भीतर,
हे आगन्तुक शिरोमणे ! तुम भले बसे हरि-हृतपर ॥ "

जाकर स्वयं विनय—सी ने सिर आदर-साथ झुकाया,
हाथ जोड़ उस छली दूतने छलियेको छलकाया।
रोम—रोमसे मूक प्रार्थना कर निज रोदन गाया,
सभा स्तब्ध हो रही समूची, कुछ न समझमें आया ॥

हरिके हाथों पत्र ? नहीं, हृत—पुञ्ज दिया वह झुककर,
तृषित दृगों से लिया श्यामने हाथ बढ़ा, कुछ उठ कर।
सोने की मंजूषा खोली अक्षर—हीरों वाली,
हरि की श्यामल बनी अँगुलियाँ जिसकी सुन्दर ताली ॥

तन्मयता से पढ़ी जनार्दन ने वह पात्रिक पीड़ा,
मानस—मंथन हुआ, दृगों में लसी कारुणिक क्रीड़ा।
देख युवक को नखसे शिख तक, लगे पत्र फिर पढ़ने,
आँखें झरतीं रुक न सकीं हा! मानस लगा उमड़ने ॥

पीताम्बर से पोंछ दृगों को युवक—ओर फिर झाँके,
छद्म—सिली गठरी के अब तो टूट गये सब टाँके।
चलने की चित निश्चिति करके आगत चर से बोले—
ओ साहस! शाबास! झेलकर आया काल-झकोले ॥

सखे धैर्य! मैं आज तुम्हारा अभिनंदन करता हूँ,
काल वरण कर तुम जो आये, तुम्हें वरण करता हूँ।
पर—हितैषिता का यह तुमने यज्ञ रचा है भारी,
मुझे प्राप्त ही नहीं किया, कर लिया अमित आभारी ॥

मेरी दीनों की दुनियाँ के तुम आधार बने हो,
क्या बतलाऊँ मेरे उरमें तुम पैठे कितने हो?"
भास्कर की किरणोंको छूकर ज्यों नवनीत पिघलता,
पिघल चला बालाका नव मन नेत्रों-द्वार उझलता ॥

आशासे भी अधिक सफलता जान, प्राण सरसाये,
सत्कृज्ञता-सूचनार्थ युग अर्घ्य-पात्र भर आये।
मंद-मंद मृदु मेदुर ध्वनिसे यदुनन्दन फिर बोले—
"अयि करुणा-मयि! तुमने बन्दिनियोंके बंधन खोले ॥

बाँध लिया मुझ "निर्बंधनको" कह हरि डगमग डोले,
सभा सकल विस्मित-सी बैठी, देख श्याम-झकझोले।
हाथ जोड़, नतग्रीव, सजल दृग, झूल रही लतिका-सी,
लुटी लुटेरे से वह पथिका खाकर मीठी गाँसी॥

बोली—"इतनी-सी लघु कृतिपर पुरस्कार वह पाया,
हे प्रसाद, जो मिले न इतना देकर लाखों काया।
मैंने तो इस दर्शनसे ही जन्म सफल है माना,
एक पंथ दो काज समझ कर युद्ध कालसे ठाना॥

दोनों हाथों मोदक जाने और न कुछ था माना,
वे मोदक क्या वस्तु, मिल गया एक अमृत अनजाना।
चरण-चारकोंकी चर्यामें इस चारकको देना,
पर, पहले उन सलिल-विहीनाओंकी जा सुध लेना॥

साथी दुःखित छोड़ स्वयं जो भोगोंमें लिपते हैं,
लाखों गो-वध पाप उन्हीं हत्यारोंपर चिपते हैं।
मित्रोंकी तो बात दूर, यदि पार्श्वी भी हो दुखमें,
खाक पड़े उन भोगोंमें, उन महलोंमें, उस सुखमें॥"

हरि बोले—"हे मर्मी! ज्यों—ज्यों मर्म-गीत पढ़ते हो,
सच जानो, तुम त्यों—त्यों मेरे मन-गिरिपर चढ़ते हो।"
पारिजातने उठकर पकड़ा पल्लव कल्प-लताका,
दण्ड-युक्त हो सोही क्या ही पावन पुण्य-पताका!

धृति अवधारित हुई धर्मसे, सफलित ध्येया, धन्या,
सरस कुसुम भूपित-सी विलसी सरल बालिका वन्या।
मंद समीरण लिये सुरभि ज्यों करता चरण प्रसारण,
चले सत्यभामाके आंगन नव परिचय परिचारण ॥

सभा पूछ पाई न, सुविस्मित अर्थ लगाती कितने,
देख रहे सब अपने—अपने मनके अगनित सपने।

* * *

"भामे! उसको पहचानो तो, कौन तुम्हारा आया?
भाई है कि भतीजा? अथवा और किसीका जाया?
उससे क्या सम्बंध तुम्हारा? तुम्हें पूछता आया,
कितना सुन्दर! देखो तो तुम, कितनी मोहक माया!"

अलकें हटा अपांगों परसे, भामा आँगन आई,
देख युवकको भौंह चढ़ा, कुछ कहती भीतर धाई।
"बस जी! बस, तुम तो नित योंही मुझे छला करते हो,
लज्जित करके मुझे किसी मिस, खड़े खिला करते हो॥

यों कर कटु परिहास, देव! तुम सीमा तज जाते हो,
पर के सम्मुख भेज मुझे यों, लाजों-गर्काते हो?
कौन कहाँ का? मैं क्या जानूँ? कितने ही आते हैं,

" भला, तुम्हारी इस सम्मतिको, अनुमति को टालूँगा ?
यह आदेश तुम्हारा प्रेयसि ! लाख बार पालूँगा । "
हाथ पकड़ ले आये भीतर लीला-घर उस धनका,
जो आया था काल-क्षेत्र में सौदा कर जीवन का ॥

कसित ललित लावण्य तेज ले आँखों में उजियाला,
कर बाँधे समुपस्थित देखा रूप लिये गुण—नाला ।
छटा देख कर मुग्ध होगई दीन-बंधु की जाया,
रोम-रोम से प्रेम अतिथि पर बरबश हो खँच आया ॥

बोली—" इनकी कहो कहानी, कौन ? कहाँसे आये ?
किस कारण ? ये हम लोगों पर क्या सेवा हैं लाये ?
झट माधव ने पत्र देदिया, वह आर्द्रित, कटु, काला,
वेध चुका था जो इनका उर, होकर तीखा भाला ॥

पत्र अर्द्ध ही पढ़ा, लगे दृग तर-तर तर-तर झरने,
बाला-कुल की करुण-कथा छू मानस लगा विदरने ।
पत्र रख दिया बेसुध-सी ने, घूमी रई हृदय में,
हरि ने परिचय देना समझा, समुचित उसी समय में ॥

" करुणा-मयि, पहचानो तो यह कौन उपस्थित सम्मुख ?
पत्र-काव्य का एक सर्ग यह, इसमें केन्द्रित सब दुख " ।
दिया जनार्दन ने जब परिचय, उसकी धृति, मति, कृतिका,
वर्णन कर दे कौन ? किस तरह ? हरि-भामा की गतिका ॥

" राज-कुमारी ! भूलों-खेली ? " कंठ लगा कर रोई,
छाती से लिपटाई, जैसे निज सहोदरा कोई ।
करुणा की गोदी में पीड़ा, धर्म उपस्थित लखता,
किसको ज्ञात ? हृदय में क्या यह चकित साज है सजता ?

" कहो प्रियतमे ! अब यह किसका निकला सच्चा भाई ?
जिसको गले लगा कर तुमने छाती शीत बनाई । "
परम भावुका भावित भामा बोली—" नाथ, तुम्हारे—
चरितों को हम क्या तोलेंगी ? खोटे बाट हमारे ॥ "

पारिजात-शाखा वह झुककर बोली-उन्हें उबारो—
नृप-कलियोंको, उनपर बनकर, सत्वर सुधा फुँहारो । "
हरि कुछ-कुछ गंभीर, उपेक्षित, विनय भावसे बोले—
" मुझे हस्तिनापुर जाना है, " हियके पाये डोले ॥

" बड़े निठुर तुम अबलाओंकी पीड़ाको ठुकराते,
घर पर आया नाग छोड़कर बाम्बी पूजन जाते !
तुम्हें पांडवोंकी चिन्ता है, मुझे चटपटी इनकी,
क्या वे कलियाँ कुचली जावें, लाज-गंध है जिनकी ?

अबलाओंकी पीड़ाको क्या पुरुष-हृदय पहचाने ?
राज-नीति, धन-संपतिके कीचड़ में रहते साने ।
योषाओंकी लज्जासे फिर तुम तो निरे अयाने,
चीर हरे ब्रज-बालाओंके, कसे कड़े फिर ताने ॥ "

माधवकी आँखोंमें झलकी एक हँसीकी रेखा
चित्र सुनहला भावी-पटपर खिंचा उन्होंने देखा।
"करना होगा नाथ, तुम्हें, यह मेरा कार्य अड़ा है,
पानी भी पी लूँगी? उरमें भाला एक गड़ा है॥ "

"मैं तो हूँ असमर्थ प्रिये, इस काल वहाँ जानेमें, "
रुष्ट भाव से बोली भामा, वचन कसे तानेमें।
"बिगड़ रहे हैं काज तुम्हारे, जाकर उन्हें सुधारो,
उन वीरों को राज्य दिलाकर अपनी कीर्ति प्रचारो॥

"पितृ–स्वसाके सुत हैं वे तो, ये बाला क्या लगतीं?
वहाँ डलेंगी गल मालाएँ, यहाँ शिखाएँ जगतीं।
अच्छी बात! बनेगी जैसी, मैं खुद चढ़ चल दूँगी,
बहिनोंकी पीड़ा की वेदी पर जाकर बलि हूँगी॥

हरिकी आँखें आर्द्र हो चलीं, सुना अभिलषित ताना,
बोले–" धन्ये! तुम्हें चाहिये ऐसा भाव दिखाना?
सत्ये! दोनों साथ चलेंगे, देखेंगे उस खल को,
हम दोनों मिल धो डालेंगें भूतलके उस मलको॥ "

छपे सत्यभामा के आँखों चित्र सरस आशाके,
" धन्य-धन्य " उद्गरित हुए मृदु शब्द मूक भाषाके।

* * *

विहंगम विहार

विहगराज निज पंख पसारे घूम रहा है,
गगनांगणमें—तरु-दल भूपर झूम रहा है।
पक्ष-ज-वात-विलोड़ित सागर लहराता है,
प्रासादोंका केतु-निकर वर फहराता है॥

सागर-सरवर-तीर नहाती बालाओंके—
करसे उड़े दुकूल—फूल गल-मालाओंके।
नगरी नभ दृग हुई निरखती विहंगेशको,
"आज कहीं है रण-हित जाना हृषीकेशको?

आज गरुड़की आँखोंमें भी कुछ लाली है,
देखो, दुर्द्धर बना उड़ रहा मुखव्याली है।
पाँखोंमें भी वेग आज है इसके कितना,
चंड वातकी नहीं भुजाओंमें बल इतना॥"

उतरा धीरे-धीरे आँगनमें सर्पाशी,
गगन-वाजिवर, पक्षाघातों-खल-दल-त्रासी।
वीर-वेषमें सजी सत्यभामा ने पलमें,
डाली सुन्दर माल विहग-पतिके दृढ़ गलमें॥

शंख, चक्र, असि, तोमर, शूल, गदा वर-धारी
गुहा-मध्यसे निकले हरि-से श्री गिरि-धारी।
विहग-राजने मृदुल विनयसे शीश नवाया,
ऐरावत-सम श्वेत, उच्चतर अंग झुकाया॥

हरिने फेरा हाथ पखोंपर, थपकी मारी,
कूद चढ़े शचि-इन्द्र, उड़ा, ले गगन-विहारी।
बालाओंका भाग्य चढ़ा जाता है ऊँचा,
आया आँखों-पाँखों नीचे जगत समूचा ॥

" प्रिये, विलोको पुरी द्वारका सँकुची कितनी,
बड़े लोचनो-बीच तुम्हारे तारा जितनी ।
सागर, दृगके श्वेत भाग-सा चमक रहा है,
सरस पल्लवित विटप, वरूनी-छटा महा है ॥

कुसुमावलियाँ लाल-लाल दृगके वर डोरे,
शैल-पंक्तियाँ भ्रुवें भासतीं, दे झकझोरे ।
धरा-आँख-आकार द्वारका सोह रही है,
देखो, मोहक छटा छिटकती मोह रही है ॥

ये वन, उपवन, शैल, सरित, सर, खेत निराले,
हरे कर रहे हृदय हमारे नव हरियाले ।
चला पंख फटकार गगनका उदर चीरता,
वेगवान हरि-यान हरण कर वात-वीरता "

उठा-उठा हरि बाहु, बताते पथ-प्रान्तोंके
नाम, ग्राम, गुण शान्त, क्रान्त उन दुर्दान्तोंके।
"यह देखो, हे प्रिये !! 'सेतु' का दृश्य मनोहर,
पुरुषोत्तम भगवान् रामसे पूजित शंकर ॥

अतुलित, अतल, अपार सिंधुके वक्षःस्थल पर,
तैर रहे हैं कागज बन कर, अगणित प्रस्तर।
सत्य, साहसी, धर्म-धुरीणोंको पथ मिलना
कहां न ? उनको गगन, अनलमें पंकज खिलता ?

सागर की उत्ताल तरंगें डोल रही हैं,
मानो अब भी कथा पुरातन बोल रही हैं।
यह बिंध्याचल प्रिये! विलोको तो, सुख-दायी
भारत-भूकी नाक, अक्षियों-आड़ लगाई ॥

इसमें अगणित औषधियाँ, नदियाँ लहरातीं,
सदा हरी रहती है इसकी मृदु, मधु छाती।
लो, यह देखो जन्म-भूमि प्रिय वैदर्भी की,
यह 'विदर्भ' पटु प्रान्त, कथा कटु इस गर्वी की ॥

वह देखो, है 'चेदि-पुरी' शिशुपाल भूप की,
दाँत पीसती है मुझ पर जो, गर्व-स्तूप की।"
"नाथ, आपने बेचारे को कोरा रक्खा,
उससे हर कर महा मधुर फल तुमने चक्खा ॥"

"यह देखो पटु बंग देश मत्स्याशी काला,
धीमानों का धाम, विलासी, निपट निराला।
परशुराम की तपोभूमि अवलोको, कैसी!
विकट दुर्गमा, नैसर्गिकता कहीं न ऐसी ॥

यथा-जात रहते हैं इसके नग्न निवासी,
वन, उपवन, सरि, शैल, सरों की शोभा खासी।
यहाँ मतंगज-माला विपिनों बीच विहरती,
मृग-पतियों से है सधवा यह दुर्द्धर धरती ॥

लो वह आया शैल हिमाचल विपद-विनाशी,
स्थल का कल कैलाश कमल, अलिवर कैलाशी।
वह देखो अति जरठ सुविस्तृत महा विटप के-
नीचे बैठे महा तपोधन मूरति तप के ॥

ध्यानावस्थित उमा ध्यान में हैं लवलीना,
पति-पद-रत-चित सतत सहज निज-तन सुधि-हीना।
संस्थित सम्मुख वृषभराज संध्यान लीन है,
खल-दल-दलन प्रवीन खड़ा खर शूल पीन है ॥"

किया नमन हित शीश श्याम ने जब निज नीचा,
छाया ने भी साथ-साथ ही पुण्य उलीचा।
"यह देखो हिम-शृंग प्रिये! चाँदी की कलशी,
अद्रि-राज-मंदिर की कितनी मोहक विलसी!

यहीं प्रकृति का मंदिर पावन परम निराला,
स्रवती संतत सुधा, यहीं खिंचती है हाला।
आत्माराम यहीं छकते हैं विघ्न-विहीना,
कवि पीते हैं यहीं अनूठी निपट नवीना ॥

यह जो मेरे भाल खिँची है मृग-मद-रेखा,
एक मात्र क्या इसका तरुवर तुमने देखा ?
वह देखो निज गंध-विमोहित, लोभित भ्रमता,
निजको हेतु न जान, जीव-सम फिरता भगता ॥

वह देखो गंगावतरण का दृश्य मनोहर,
देता कुछ सुनने न निरन्तर अति रव 'हर-हर'।
कितना सुन्दर सालिल पूत है हर-चोटी का,
कोटि-कोटि शुचि सलिलोंका वह पावन टीका ॥

यह अनुकूल-विकूल कूल के तरुवर कुलको,
करता है उन्मूल, तथा खर अवतर-कुलको ।
देखो बद्रिक-आश्रमकी वह छटा सुहावन,
बसते इसके अंक तपोधन, पावन-पावन ॥

झाँक विलोको, कितनी नदियाँ, नद, निर्झर हैं,
कितने निर्मल पूत वारिवर सर मनहर हैं।
यह देखो लस रही सरस सुषमा-सुकुमारी,
काश्मीरी मन-मोहक मुकुलित केशर-क्यारी ॥

सुन्दरताकी जन्म-भूमि यह निपट निराली,
यहीं प्रकृतिने अपनी सज्जा भूमि बनाली ।
नहीं देखती ? हँसती इसकी डाली-डाली,
यहाँ मेनका—मान मर्दती इंधन वाली ॥

यह पंचाप अमाप भूमि वीरोंकी जननी,
अवलोको तो धीरे ! धीरे धीरा अवनी ।
यह जांगल कुरु देश निरा है निर्मम निष्ठुर,
रण-धर्मी सब भाँति निरापद निपट निरातुर ॥

यह अति उच्च विशाल महा प्रासादोंवाला,
जिसपर हँसता देख रहा मैं केतन काला ।
यही हस्तिनापुर वह जिसमें मदकल बसते,
धर्म-सरोवरको जो गदला कर-कर हँसते ॥

यहीं एक दिन होगा मुझको भामे ! आना,
शायद मुझको पड़े कालसे काल भिड़ाना ।
यह ससुराल तुम्हारी मीठी, मोहक, प्यारी,
धन्ये ! दर्शन करो भावसे, यह अघ-हारी ॥

यह तनु इसकी पावन रजमें पला-फला है,
यह जीवनका स्रोत इसी गिरिसे निकला है ।
मैंने गालों चपत यहींपर मृदु खाये हैं,
मृण्मय गोले यहीं छड़ी ने उगलाये हैं ॥ ”

यमुन-लहरियाँ आँखोंमें हरिके लहराईं,
कालिन्दी दो धारा बनकर आँखों आई ।
करते व्रज-गुण-गान कृष्ण तन सुध-बुध भूले,
प्रियत-विटपपर डली सुपख-प्रेंखापर झूले ॥

"ये कल केलि-किलोल अहा ! कमनीय कहाँ अब ?
वह वन-विहरण वेणु रणन रमणीय कहाँ अब ?
कहाँ रास वे—कहा, 'रा' कि बस आह अधूरी,
शव्द झरी रह गई—बैखरी हुई न पूरी ॥

उन्मन स्थितिमें स्वामि हुए, वाहन ने जाना,
किया पखोंका वेग मन्द, अति सहज सुहाना ।
हरिकी मनसा जान यानने की प्रदक्षिणा,—
व्रजकी पलमें, पावन-कारी भाव लक्षणा ॥

जब वह आया धाम, जहाँकी रज धन्या थी,
विरह-विमग्ना शून्या तपती जगदन्या थी ।
पा हरि-पद संकेत विहग-पतिने पख चाँपे,
कहीं ध्येय खोजाय न, फिर यह घड़ियों काँपे ॥

धीरे धीरे निकल गये घनश्याम बरसते,
पी दर्शन-पीयूष, चातकी छोड़ तरसते ।
व्रजको किया प्रणाम मानसे, मनसे, तनसे,
किया विस्मिताने तथैव झुक नमन सुमनसे ॥

संहार

सरस विहंगम दर्शन भारत-भू का करके,
व्रजकी रज को कर प्रणाम उर हल्का करके ।
प्राग्ज्योतिष की ओर मुड़ चले पख सुपर्ण के,
हुए कृष्ण के सहज सुलोचन रक्त वर्ण के ॥

अतुलित बलसे चला विहग आवेश भरा-सा,
वाहक के दग-रोप-कशा-की छाँह डरा-सा।
मारुत की क्या कथा, मारुती की भी गतिको-
मात कर दिया कवियों की भी चपला मतिको॥

टूट चला तारा-सा सीधा गगन-वक्ष पर,
लिये दक्ष अध्यक्ष लक्ष्यपर, वह सुपक्ष-शर।
राम-विशिख-सा, अग्नि फेंकता विकट वनों में,
आग लगाता हुआ गगन के सघन घनों में॥

धरा-रुहों की, धरा-धरों की हुई दुर्दशा,
धरा प्रकंपित हुई गगन-तल खड़ खड़ विहसा।
बहुत दूर से दृष्टि पड़ा वह व्यूह अनय का,
पर्वतीय प्राचीर प्रबलतर पाप-निचयका॥

प्राग्ज्योतिष का दृश्य भयानक काल-वदन-सा,
दुराचार-परिवार निसेवित, अडिग सदन-सा।
काले घोर भयानक ऊँचे शैलों ऊपर,
शस्त्रागार सुसज्जित, संस्थित सैनिक तत्पर॥

बैठी शत-शत मुँह बाये हैं नव शतघ्नियाँ,
यथा फणी-विश्राम-प्रहरिणी अमित फणिनियाँ।
ज्वालाओं की जीभ उगलतीं पल-पल रहतीं,
'कर देंगी विप दग्ध' जगत को निर्भय कहतीं॥

लाखों-लाख हयों का 'हीं हीं' हींसन होता,
सुन कर जिसको दिग्गजदल भी निज धृति खोता।
रमती प्रतिध्वनि कोने-कोने के कानों में,
गहन गुहाओं, गर्त्तों, विजन वनों, स्थानों में ॥

गृद्धांकित विकराल लाल फहराता केतन,
उच्च धवल अति प्रबल हँस रहा शस्त्र-निकेतन।
नभ से करता सतत छेड़ वह सुदृढ कोटवर,
लाँघ जाय क्या अपमानित कर उसे गगन-चर?

हेम-कलश नव उच्च राज-प्रासाद चमकते,
लूट प्रभाकर-प्रभा, प्रभावक परम दमकते।
विमल वारि कुसुमाकर पार्श्वी मुकुर वरोंमें,
प्रतिबिंबित लहराती स्वर्ण-लता लहरोंमें ॥

"देखी भामे! सुदृढ़ राजधानी यह कैसी?
कह सकती हो रावणकी लंका थी ऐसी?
यहाँ विभवता बनी बंदिनी पड़ी हुई है,
यहीं नाव उन सत्सतियोंकी अड़ी हुई है ॥"

घूमा अंगुली बीच सुदर्शन अनल उगलता,
'खैं-खैं' करता हुआ चलनके चाव मचलता।
दंभोली-सा चला छूट वह शैल-कूट पर,
टूक-टूक करनेको तारक महा, टूटकर ॥

असह घोर रव 'कड़-कड़' करता भू कम्पाता,
लाखों-लाख असह चपलाएँ चल चमकाता।
'धड़-धड़' 'धड़-धड़' टूट गिरे गिरि-शृंग विपलमें,
धाँय-धाँय कर लगे दहन वन, चंड अनलमें॥

धूमावृत होगया गगन ज्यों प्रलय-घनोंसे,
फटा 'हाहाकार' करुण रव दुर्वदनोंसे।
'प्रलय जँचा? भूकम्प मचा? या झंझा आई?'
विगत-बोध हो रहे बुद्धिपर स्याही छाई॥

हरि अँगुलीमें चक्र, गगनमें यान घूमता,
ज्योतिषपुरका शिरो-जाल गत भान घूमता।
छूटा होकर कुपित चक्रवर—श्येन अहेरी,
विहंग-वृन्दपर अनल विवर्षी दे चक्फेरी॥

धूम्र-घटामें चक्र, तड़ित-सा भासा सबको,
गढ़पर आता देख छुटी असु-आशा सबको।
'कड़-कड़' 'कड़-कड़' कड़क वज्र-सम पड़ा जोरसे,
डाला दुर्ग बखेर सिंधुने निज हिलोरसे॥

काल थपेड़े मार रहा है ज्योतिषपुरके,
काम न करते होश इस समय भौमासुरके।
लाखों आँखें खोज रही हैं गगन-गातको,
पल-पल प्राणाशंक सोचतीं अनल-पातको॥

वह अनाथ चिड़ियोंका पिंजरा भयसे डोला,
संकट सिरपर जान किसीने वदन न खोला।
" अरी! कहीं 'ह्लादिनी' नहीं यह कड़क रही है?
वाम अक्षि औ भुजा इसी क्षण फड़क रही है॥ "

चन्द्रकलाके वचन सुने जब ये उन सबने,
खुले सुस्मृतिके नेत्र, मिट गये भयके सपने।
"हाँ-हाँ जीजी! कुछ लक्षण शुभ हैं दिखलाते,
क्या जाने,क्यों नेत्र,हर्ष-जल भर-भर लाते!"

सबने आशान्वित नेत्रोंसे गगन निहारा,
गहन नील तम नभमें डूबी सबकी तारा॥
नभो-निकष पर खिंची अचानक स्वर्णिम-रेखा,
और साथ ही लिखित सुवर्णी विवरण देखा॥

'भय न करो, आ पहुँचा,' पढ़-कर,तन-सुध भूलीं,
भुक्त विपति सब भूल सपदि सुख-झूले झूलीं।
जहाँ हिलोरे विष लेता था, वहाँ इसी क्षण,
सुधा-पयो-निधि उमड़ चला,जी ऊठा कण-कण॥

वे नव अक्षर नवनिधिसे भी बढ़कर उनको—
भासे, सुन्दर स्वर्ण उदित नव दिनकर उनको।
शंक-पंकमें सनी कलंकित थीं सब कंपित,
चन्द्र-सुदर्शन अंक बाँच सब हुई अशंकित॥

असित गगनमें अंक-दीप्ति वह कृष्ण-स्मिति-सी,
करके इंगित छुपी, 'विपतिकी समझो इति-सी।'
घूमा हरिकी जा अँगुलीमें चक्र सुदर्शन,
'छोड़ो-छोड़ो' नाथ, करूं मैं खल-दल-ध्वंसन ॥

उधर खुले मुँह गगन-मुखी शत शतघ्नियोंके,
पूँछ दब गये जैसे सोये शिति फणियोंके।
लपटोंके हाथोंसे नभको हैं टटोलतीं,
शत्रु-दहन करनेको चंडी-जीभ डोलतीं ॥

ले हरिको हरियान गया नभके उस मंजिल,
जहाँ धूम्र भी पहुँच न पाता, लगती भू तिल।
मिला न कुछ भी उन तोपोंको पता-ठिकाना,
मौन हो गया कृपण भावसे बारुद-खाना ॥

भौमासुरने कहा, बुला, निज सेनानीसे—
"आग बुझेगी क्या न तुम्हारे बल-पानीसे ?"
"यदि होवे संग्राम धरा पर, विश्व उथल दूँ,
यदि ले आये शत्रु हिमालय, वहीं कुचल दूँ ॥

महाराज, मैं सागरकी लहरोंको मोड़ूं,
वज्र-कपाटी दुर्गम दुर्ग निमिषमें तोड़ूं।
पर, यह निपट अलक्षित नभ-गत नूतन रण है,
परम विलक्षण और विचक्षण, भय क्षण-क्षण है ॥"

स्वयं असुरने ज्योतिर्मय निज विशिख चढ़ाये,
विश्व-विनाशी क्षणमें नभ पर हाथ बढ़ाये।
अंधकारसे पूर्ण गगनमें बाण चमकते,
अमा-निशामें यथा अमित नक्षत्र दमकते ॥

प्रजा त्रस्त,भयभीत,विगत धृति 'हा-हा' करती,
धाँय-धाँय कर जली जा रही बनकी धरती।
ज्योतिषपुर बन बैठा आँवा एक निमिषमें,
हसनामृत परिणत हो बैठा रोदन-विषमें ॥

अंचल बाँधा दर्प-अनल है किसे न दहता ?
क्षार सिंधु उच्छ्वासित, नीति यही नित कहता।
लहरें मंद पड़ी लहरीकी मिला न बैरी,
वह इन रोष-मयी लहरोंसे ऊँचा लहरी ॥

धरकर धनुपर एक अग्नि-मय विशिख निराला,
भौमासुरने गगन-पटलपर यों लिख डाला—
" ओ छद्मी ! दुर्वेषी, कपटी, कृतिका काला,
यह क्या तूने अरे ! युद्धका ढंग निकाला ?

भीरु, शूरताका यह तूने वध कर डाला,
वीर-कलंकी ! रण-चंडीके उरका छाला !
छुप-छुप करता वार ? वीरता सिसक रही है,
जाना—जगसे शूर वीरता खिसक रही है ॥

यदि है सच्चा शूर, सामने आ वसुधापर,
चलो करें संग्राम आज इस विजय-सुधापर। "
पढ़ा कृष्णने गगन-पत्र यह व्यंग-विवरणी,
हुए विलोचन एक साथ बस लोहित-वर्णी ॥

लिखा चक्र से-'सावधान हो,' नभ के हत पर,
पांच जन्य को धमा, जोर से-गूंजे भू-धर।
जैसे उपल-प्रपूरित भय-प्रद गर्जन करता,
घना नील घन घोर धरा-उर कम्पन करता ॥

उतर रहे हैं नभ से धीरे-धीरे धृति-धर,
बादल बिजली सहित आरहा मानो क्षितिपर।
गिरिके ऊँचे एक शृंग पर उरगाशनने—
पंख समेटे—लोचन फेंके गरुड़ासनने ॥

रिपु का समुचित सैन्य-गठन, संचालन, रक्षण,
तोला नेत्र-तुलामें सारा विक्रम तत्क्षण।
प्रिय भामा को वहीं सुरक्षित कर कमलेक्षण,
बढ़े नगर की ओर चढ़े पवनाशन-भक्षण ॥

'गर-गर,' 'गर-गर' शब्द गरुड कर गर्जा दलपर,
'खर, खर,' 'खर-खर,' शब्द चक्र का निकला खल-हर।
शत्रु-प्रकम्पक पांचजन्य को अधरों धरके,
वंशीधर ने फूँका—रिपु-दल-लक्षित करके ॥

गूँजी प्रतिध्वनि अद्रि-श्रेणिकी दुर्दरियोंमें,
मचा तहलका कुम्भाशी मृग-पति हरियोंमें।
गर्जे वे भी एक साथ प्रतिद्वन्द्व-भावसे,
थर्राये सब धरती-धर उस विकट रावसे ॥

पांचजन्य नव पंचाननके सम्मुख मदकल,
भरता है फुंकार क्रोधसे रण-हित पल-पल।
फेंकी गाँसी तुरत असुरने हुंकृति करके,
दाँत कटकटा विकट पराक्रम पूरा भरके ॥

चली छूट वह पक्ष-धारिणी महा भुजगिनी,
गरुड़ासनको दंशन करने—जलपर अग्नी।
गरल-मुखी वह नहीं तीर-भर पाई उड़ने,
ग्रसन बीचमें की, उड़ क्षणमें स्फूर्त गरुड़ने ॥

खलने फेंकी शीघ्र दूसरी साँग सुलगती,
जिसमें विष-मय लाल-लाल लपटें थी जगती।
सिरपर आती देख गरुड़ने कक्ष बचाया,
विफला होकर गिरी, बची हरि-तिल तिल काया ॥

किया तीसरा वार असुरने पागल होकर,
'तिष्ठ धूर्त्त,' इन वचनोंमें कटु विष-सा बोकर।
महा 'शक्ति' वह वक्रित फेंकी सर्प-चालसे,
"अबके बचना कठिन अरे शठ,महाकालसे ॥"

ली वह ओट गदा पर, फिर भी अति सन्नाती,
भाल-मुकुट लेगई हिलोरे तिरछे खाती।
‘ हाहाकार ’ सुरोंने, असुरोंने ‘ वाह्वा ’ की,
देख रही हरि-प्रिया युद्ध, उर रही न बाकी ॥

बोली—“ खेल रहे क्या खलसे मारो भगवन् !
भय लगता है, कम्पित है उर मेरा क्षण-क्षण। ”
इसी वचनके लिये खेल तो यह होता था,
इसी वचनकी बाट गदाका मुख जोता था ॥

चले कुपित हो केश-पाश बिखराये माधव,
आज करेंगे विश्रुत अपना कुल ये यादव।
केसरको बिखराकर जैसे कुपित केसरी,
उच्च-पुच्छ हो चले—सजे त्यों वहाँ नर-हरी ॥

रे खल, तेरी झूठी होगी जन्म-पत्रिका,
जरा ठहर, संभाल शीश पर गदा-यंत्रिका।
पड़ी मुकुंदी-गदा, गदापर झेली उसने,
बहुत स्फूर्त्तिसे मृत्यु-जीभ-सी ठेली उसने ॥

उठी नादके साथ गदाओंसे चिनगारी,
मचा गदा-संग्राम भयानक ‘ हाहाकारी ’।
चरणाघातोंसे वसुधामें गर्त्त पड़ गये,
यथा विपिनमें दो मदकल गज विकट अड़ गये ॥

समर-भूमिसे धूलि उठी कोसों तक फैली,
शूर विमोहित हुए देखकर रणकी शैली।
हरिने मारी गदा, गदाके कणके-कणके,
भौमासुरके उलट गये रसके घट रणके ॥

हुआ निरा निःशस्त्र—देखकर माधव बोले,
"अरे! रुका है वार—दिखा तलवार झकोले"।
'धन्य' शब्द असुरोंके और सुरोंके मुखसे,
बार-बार इस वीर-धर्म पर निकले सुखसे ॥

उठा तीव्र तलवार वीर वह चला टूट कर,
लज्ज-भाव से, कुपित हुआ. शर-तुल्य छूटकर।
हरि पर किया प्रहार गदा पर झेल,बच गये,
अब आँखों में महा काल के सूत्र खिंच गये ॥

मारी ऊँची उठा, शीश के टुकड़े-टुकड़े,
रक्त-सुरंजित हुए धरा के काले दुखड़े ।
पड़ा सिसकता, पाँव पीटता माँ के उर पर,
झंडे सहसा झुके, फहरते थे जो पुर पर ॥

की तलवारें म्यान, झुके सेनानी बाँके,
शीश झुक गये एक साथ सज्जित सेना के।
यद्यपि पति का शत्रु मरा, पर भामा रोई,
क्या कुपूत का मरना माता सहती कोई ?

मारित रिपु का मान यथा विधि किया, कराया,
दाह कर्म उसके सुपुत्र से—मार्ग लगाया।
किया राज्य-अभिषेक, युवक को नीति बताई,
धर्म-मयी सब भाँति, सदा, सबको सुखदायी॥

*   *   *

हुआ स्वच्छ आकाश इन्द्रने भूतल धोया,
जलके कलश उँडेल, बनोंका विदहन खोया।
भूधर निखरे नील गगन-सम, वसुधा विहँसी,
सकल नीलिमा हरिके तनपर केन्द्रित विलसी॥

अमल सलिल सर-सरिताओंमें नभकी छाया—
देकर अपना रंग—बना दी नीलम काया।
असित कमल अति अमल सलिल आसन सरसाये,
हरित-भरित जन-मानस पुलकित वर दरसाये॥

भामा-युत भगवान, भौमके भवन विसोहे,
भौम-भामिनींने भावोंके मोती पोहे—
"हे जगदीश! जनार्दन! तुमने मेरे पोंछे—
सब सुहागके चिन्ह, भोगके सब सुख ओंछे॥

नारि-गर्व सौभाग्य-चूड़ियाँ मेरी छूटीं,
हा! हा! करसे आज आरसी मेरे छूटी।
चित्र-सारिका आज बनादी मेरी फीकी,
रही न मेरे लिये कुंकुमी आभा नीकी॥

आज स्नेहका स्नेह हर लिया तुमने मेरा,
हरे ! अर्द्ध प्रिय देह हर लिया तुमने मेरा।
पतिका असह वियोग-दुःख हम नारी जानैं,
इससे बढ़कर दुःख और हम एक न मानैं ॥

पर हे दीनानाथ ! जहाँ तुमने सुख पोंछे,
वहाँ हमारे कुलके पातक भी तो ओंछे।
भू-तलके भूपाल-भालका टीका काला
विना तुम्हारे कौन मेटता, जगत कसाला ?

दीन-हीन-दुख-दायक था पति मेरा, कामी,
लोक-लाजकी लीक लाँघकर चला कुगामी
जगत-वक्षमें कड़ी चुटकियाँ भरता रहता,
बोधा उसको बहुत, थमा वह तनिक न बहता ॥

हाय ! हारकर, साँस मारकर मैं रो लेती,
पुण्य-प्रणाशक पतिकी कृतिपर क्षत धो लेती।
प्रभो ! कहेंगे आप कदाचित असती मुझको ?
पति-विनिन्दिका ठहरायेगी जगती मुझको ॥

रवि, शशि, पावक, पवन, ईशको साक्षी करके,
इस सम्मुख स्थित एक लालको लक्षी करके।
धर्म-सामने कहती हूँ मैं, पतिव्रता हूँ,
पति-हितैषिणी रही सदा मैं, शुभ-निरता हूँ ॥

पतिको पातक-पंथ पाँव जब रखते लखती,
बकती, धकती, पाँव पकड़ पावकसे रखती।
कुचला उसने हृदय न मेरा, जगती भरका,
उसने छीना नहीं धर्म-धन किसके घरका ?

रो कहती, जगदीश! भले मैं विधवा होऊं,
भले नरकमें सर्पोंकी शैयापर सोऊं।
काटें लाखों-लाख भले ही वृश्चिक मुझको,
ताते-तीव्र उबाल सह्य हैं तैलिक मुझको॥

पर, जग-पीड़ा-दायक पतिकी चाह न मुझको,
रंच चाहिये स्वर्ग-राह, जग-'वाह' न मुझको।
निज भोगोंके हेतु पति-व्रत-पुण्य साँचना,
मैंने समझा भला न भौगिक नाच नाचना॥

निज पाति-व्रत-पुण्य पीड़ितों-हित दे डाला,
अबलाओंका मिटे किस तरह कड़ा कसाला।
यही प्रार्थना रात-दिवस ईश्वरसे करती,
नाथ! मुझे दो दुःख, सुखी हो सारी धरती॥

सुनी प्रार्थना जगदीश्वरने, तुम उठ धाये,
कौन जानता, किसके पुण्य तुम्हें ले आये?"
भौम-भामिनीकी आँखोंमें जल भर आया,
देख अलौकिक त्याग कृष्णकी झूमी काया॥

धन्य ! धन्य ! तू सती ! पति-व्रत-पूर्ण-पालिनी,
पर-हित-संचित परम पति-व्रत पुण्य वारिणी ।
अपना बोया क्षेत्र सुरक्षित, पका-पकाया,
क्षुधित देख गो-वंश, हर्षके साथ लुटाया ॥

तूने अपने लिये न रक्खा उसका दाना,
भरा अलौकिक तूने अपना पुण्य-खजाना ।
यह तेरा सुत परम यशस्वी, पुण्य-प्रतापी,—
होगा विक्रमवान, धैर्य-धर, अरि-परितापी ॥

तेरी सद्गति कौन छेकदे, किसमें बल है ?
तेरा पुण्य-प्रताप अनल है, अतुल अतल है ।"
झुका पुत्रको साथ झुकी चरणोंमें रानी,
पुत्र रूपमें पूर्ण हुई गत पतिकी हानी ॥

* * * *

अबला-उद्धार

आज हर्ष, उल्लास, मोदका पार नहीं है,
किसका लोचन-युग्म गूँथता हार नहीं है ?
किनके आज न मानस-आसन राह देखते,
पद्मा-पतिके पाद-पद्मकी चाह देखते ।

चन्दन है घिस रहा कहीं केशरके सँगमें,
कहीं धूप-कर्पूर, सज रहे अक्षत रँगमें।
कहीं स्नेह-मय दीप सँजोये आज जा रहे,
कहीं सुगंधित पुष्प जन्मका लाभ पा रहे॥

कविताएँ बन रहीं कहींपर स्वगतार्थ को,
भर-भर आर्द्रित अर्थ जान परमार्थ-अर्थ को॥
कोकिल कंठी कलित साधती कल कंठोंको,
विसर विगत टंटोंको, तकती अब घंटोंको॥

ज्यों-ज्यों आता सूर्य शिखरमें त्यों-त्यों होतीं—
बालाएँ बेहाल,—बाटमें धीरज खोतीं।
कभी ताकतीं गगन, कभी निज कान लगातीं
कारालयके द्वार—शब्दपर ध्यान जमातीं॥

"आया अब तक नहीं अरी! वह पाश-विमोचक,
सुना गया है जिसका कार्य-कलाप सुरोचक।
भूल गया क्या, भौम-पुत्रसे पूजित होकर?"
"ना,ना,ना," कह देती दूजी बाला रोकर॥

"अरी! जलो यह जीभ, कभी ऐसा हो सकता?
इतना व्यापक हृदय कभी निजता खो सकता?
उसमें गलती देख रही हो? अरी बावली!
धैर्य धरो, तुम बनो न इतनी तो उतावली॥

निश्चय जानो, इस आँगनमें वह आयेगा,
किंकरियोंको दर्शन देकर अपनायेगा। "
" अगर न आया?" तीजी बोली, भस्म बनेंगी,
देखेगा संसार कि जब हम चिता चिनेंगी॥"

बहुमतसे प्रस्ताव यही बस पास होगया,
उसी काल मृदु रवसे पूर्णाकाश होगया।
विहगराज मँडराता देखा गगनांगणमें,
बनी सहस्रों अँखियाँ खगियाँ उस लघु क्षणमें॥

सबके लम्बे केश नितम्बों झूल रहे हैं,
बड़े-बड़े दृग पलक डालना भूल रहे हैं।
घूम मंडलाकार रहा हरि-यान झाँकता,
असित विलम्बित विलुलित अगणित सर्प आँकता॥

ताक रहे भगवान भामिनी सहित सभाको,
रह-रह कर दमकाते उज्ज्वल दशन-प्रभाको॥
आँखोंसे बरसाते उरके परम स्नेहकी—
सुधा-धार—सुध भूल भामिनीकी, स्वदेहकी।

स्वाति बरसती बूँद तृषित चातकियाँ जैसे,
पीती चंचु पसार लसी सब अँखियाँ ऐसे।
धीमी-धीमी गतिसे श्रीहरि निकट आरहे,
अगणित लोचन बिछे जहाँ जल हुए जा रहे॥

पड़ी विहग-पतिकी छाया जब पद्मिनियोंपर,
परस विपुलकित हुई, आर्द्रता दृग-अनियोंपर।
सुध-बुध इनको रही न, उनको, किनको-किनको?
परमानंद-सुधार्णव-मज्जित देखो जिनको ॥

कर-कर कितने यत्न लगाते मुनि समाधियाँ,
पर, कर पाते नहीं दूर, चल मनो-व्याधियाँ।
यहाँ हजारोंकी समाधियाँ लगी हुई हैं,
इन मधु-मखियोंकी पँखियाँ मधु-पगी हुई हैं ॥

चत्वरमें नव एक चौंतरा सजा हुआ था,
बालाओंके मानस-सा वह मँजा हुआ था।
चरण उसी पर हरि-वाहन ने अपने टेके,
घूम-घुमा कर पवन प्रेरते पंख समेटे ॥

वामा-युत भगवान उतर कर मौन भावसे,
लगे देखने वे विदेहिनी परम चावसे।
लोचन सबके खुले एक सँग ऐसे भासे,
प्रात पवन ज्यों परस, भानु लख कमल प्रकासे ॥

एक साथ सिर झुके सहस्रों गद्गद होकर,
फूट गये दुख-कलश, दरशकी खाकर ठोकर।
विमला लेकर थाल बढ़ी, सिमटी कुछ कम्पित,
स्वेद-सीकरों-आवृत वर मुख-मंडल दर्शित ॥

सबकी प्रतिनिधि निर्वाचित वह नव पुजारिणी,
भावुकताकी मूर्ति, अलौकिक रूप धारिणी।
हरिके धोये पाद-पद्म, नव पद्म वरोंसे,
युगल-मूर्ति पर चन्दन चर्चा विमल करोंसे ॥

चन्द्र रोहिणी-सहित चकोरी पाकर मानो,
भरती रस-मय चंचु अंध हो, पाठक, जानो।
कुसुम वरोंकी माल पिन्हाई परम रूपको,
जोड़े सबने हाथ, नवा सिर धर्म-स्तूपको ॥

एक कंठसे कढ़ी उसी क्षण सरस रागिनी,
थी कवियित्री स्वयं गायिका नाम 'रागिनी'।
थी मंजुलता शब्दोंमें, रसनामें, तनमें,
रस था स्वरमें, नेत्रोंमें, मनमें, जीवनमें ॥

ओ विस्मय के मेघ! भले तुम उमड़-घुमड़ चढ़ आये!
ओ वनमाली! इन बेलों पर क्या लख हाथ बढ़ाये?

रस न रंग केसर न यहाँ है,
योग्य आपके सुरभि कहाँ है?
उन्मूलनता जहाँ-तहाँ है,
डाल-पात मुर्झाये ॥ १ ॥

हृदय दुःख-भरपूर हुए हैं,
आशंकाओं चूर हुए हैं।
सरस भाव कपूर हुए हैं,
दाहक के सुलगाये ॥ २ ॥

पारिजात, तुम इन बेलों में !
ओ हीरक ! तुम इन ढेलों में ! !
चन्दन झूमा आ केलों में !! !
क्षीर-सिंधु मरु धाये ! ॥३॥

क्या आतिथ्य करें हम वाला ?
रवि को तम क्या करे उजाला ?
तुमने अपनापन है पाला,
पास पलक में पाये ॥ ४ ॥

इन निर्धनियों के आंगण में,
विश्व-धनी चल आये क्षणमें,
प्राण रखैं उपहार, चरण में,
कुछ तो जी सरसाये ॥ ५ ॥

"प्राण रखैं उपहार चरण में," सबने गाया,—
एक कंठ हो गूँजी नभ की निर्मल काया ।
"कुछ तो जी सरसाये," पद सुन हरि सरसाये,
भर मीठी मुस्कान, भाव गहरे दरसाये ॥

बोले-"बाला-वृन्द ! कहो, क्या चाह तुम्हारी ?
शायद करदूं शान्त, सलिल दे दाह तुम्हारी ।
है मुझको यह खेद, धर्म-हित तुमने झेले—
अब तक यों आघात—उरों पर विष-धर खेले !

वे विष-धर अब कुसुम समझलो, भूत भुलादो,
वर्त्तमान के हिन्दोले पर चित्त झुलादो ॥

जो जैसा 'वर' जिसे चाहिये वैसा वर दूँ,
कहो, पिताओं पास भेजकर, सुख-मय कर दूँ।
जो कुछ चाहो और, कहो संकोच न किंचित,
मुझे ह्लादिनी ने कर डाला है रस-सिंचित ॥

मुझे पत्र में अपने तुमने लूट लिया है,
आमंत्रण यह तुमने मुझको न्यून दिया है?
मैंने किया न कुछ भी, तुमने करवाया है,
कारण बनकर भार प्रजा का हरवाया है ॥

आभारी मैं सदा तुम्हारा, तुम हो धीरा,
मर मिटने की साध रखी, निकली तुम वीरा।
अबसे अपने को न समझना तुम अनाथिनी,
तुमको कौन अनाथ कहे, तुम धर्म-साथिनी ॥

यह मत समझो मैं न तुम्हारा उर पढ़ पाया,"
आगे शब्द कढ़े न, वाष्पसे गल भर आया।
भर भावोंसे हृदय, झूमती हुई 'रागिनी,'
बोली, जैसे छिड़ी विपंची लिये रागनी ॥

अर्पित आज नहीं यह माला।
जिस दिन चरित सुने उस दिन से सबने मन दे डाला,
अब किससे क्या पूछ रहे प्रभु, सबके उर उजियाला।
सब इच्छाएँ मिटी आज हैं शेष न एक कसाला,
हमने प्रण पाला सो पाला, तुमने क्या कम पाला?
काल-लीक को लाँघ महा वाग्वो में कौला काला।
कौन हमारे पिता-बंधु वे जिनसे बुझी न ज्वाला,
हमें झेलना विष पीना है, है खेलाना काला।
पर-घर-वसिता सीता-सी सतवंती को न निकाला?
मर्यादा के नाम, राम ने क्या कुछ देखा भाला?
यह समाज क्यों झेले हमको, पड़ा प्रथा का ताला,
हे होता! बस तुम्हीं सँभालो, यह सूनी मख-शाला।

मौन होरहे माधव सुनकर मधुर अर्पणा,
खड़ी स्तब्ध वह सभा, प्रेमकी किये अर्चना।
दीन-बंधुकी जायाकी तब मानस-बीना,
हुई झंकृता, छू रसना मिजराव नवीना॥

"जीवन-घन क्यों हुए अनुत्तर सुधा बरसते?
बरसो, ये क्षुप लतिकाओंके खड़े तरसते।
यहाँ किस लिये आये थे हे देव! विचारो,
जगतीका उद्धार किया, इनको न उबारो?"

" तुमही कहदो देवि! कौन है हममें आया ?
किस धनको है कौन पवन प्रेरित कर लाया!"
भामा समझ गई सब हरिके भाव रँगीले,
बोली तव उन बालाओंसें वचन रसीले—

" वहनो! तुम चिन्ता न करो मैं अपनाती हूँ,
तुम्हें सहेली बना आजमें हर्षाती हूँ।
देख तुम्हारे भाल कुंकुमित मैं फूलूंगी,
तुम्हें झूलती देख मोदमें में मैं झूलूँगी॥

मैं जिस तरुकी लता उसी पर तुम भी छाना,
मेरा तरु है कितना विस्तृत किसने जाना ?
नित विकसित उस महाशाखकी मूल न पायी,
नहीं किसीको शिखा पड़ी उसकी दिखलायी॥

उसी महापादपके तुम भी पाद परसना,
ऊल, फूल-फल पात डाल-युत खूब सरसना।
पतझड़ उसमें कभी न, वह तो सदा सरस है,
शुष्कोंको सरसाता उसका हरित परस है॥

मेरी अनुजा-सी अनुगा बन चलो वहाँ पर,
नहीं सूखते सुखके सरवर कभी जहाँ पर।
मैं सब अपने भोग तुम्हें अर्पित कर दूँगी,
निज बहनोंको देख विरमती हर्षित हूँगी॥

तुमको हँसती देख हँसूँगी, सफल बनूँगी।
तुम्हें धूपमें देख, आँचलों छाँह तनूँगी।
जो तृषितों-तप्तोंको मानव शीत न करता,
होकर सबल-समर्थ व्यर्थ वह जीवन धरता ॥

उसने मानवताका मूल्य घटा सब डाला,
वह जगतीके वक्षः स्थलका जलता छाला।
जिस पयोदका कण-कण सखियो! करुणा-मय है,
दया-पूर्ण जो लहर मारता वरुणालय है ॥

मुझे गर्व है उसी मेघकी मैं तड़िता हूँ,
उसी सिंधुकी संगम-प्राप्ता मैं सरिता हूँ।
उसी सिंधुमें अयि सरिताओ! तुम भी आओ,
जीवन भरकी जलन मिटा कर जी सरसाओ ॥"

पा ये छींटे सरस, शुष्क बेलें सरसाईं,
आँखोंमें, अधरोंमें मुदिता-मृदुता छाई।
पवन-प्रेरिता लतिका-दल-सी सब बालाएँ,
झुकीं एक सँग लिये प्रेमकी शुचि मालाएँ ॥

उसी कालमें खुला द्वार दृढ कारालयका,
खड़-खड़ करता घोर शब्द, उस दारालयका।
लिये साथमें पुत्र, सचिव वर, पुरजन, परिजन,
राजसु-महिषी आई करने इनको अर्पन ॥

राजसु-महिषी ने उन सबको समझ स्वकन्या,
सौंपी हरि के हाथ, बनादी उनको धन्या।
रथ, गज, वाजि, सवार, दासियाँ, दास हजारों,
हेम, हीर-मय हार दिये, पट विजटित तारों॥

दान, मान-युत विदा हुए 'द्वारा' के स्वामी,
कारा-मुक्त किये दाराएँ, कारा—स्वामी।
आओ, फिर हे हरे! साथ ले ऐसी भामा,
आज किरोड़ों विलप रहीं विधिवामा वामा॥

अष्टम अंग

संधि-दूत

प्रासादोंमें पला शौर्य वह 'पंचक' आयुध-धारी
सुलग रहा है एक कुटीमें, ले चिन्ता-चिनगारी।
अनल-तपा वह कसा निकष पर सोना व्यर्थ पड़ा है,
स्वर्णकारके बिना न भूषण उसका गया घड़ा है॥

उपपलव्य छोटी-सी बसती, दुनियाँके कोनेमें,
हैं लोनेमें लीन कृषक जन जैसे थे बोनेमें।
छान-छया घर कच्चा मिट्टीका है अर्द्ध पुता ही,
पड़ा कृषकके खेत-सरीखा बेबस अर्द्ध जुता ही॥

एक रसोई छोटी-सी है, धूआँ भरी धवीली,
थाली, लोटा, चमची, चिमटा, बरतन तवा, पतीली।
मानस-धूएँसे धूमिल है पाचक खुद पांचाली,
संधि-समस्या सुलझानेमें जिसने मति उलझाली॥

संधि-विषयके ध्यान मात्र ही आती आँखों लाली,
नट जाती हैं सूखी रोपित· लोलित अलकें काली॥

धूलि-सना मकड़ीके जालों धनु गांडीव टँगा है,
कीलित, ताड़ित, घर्षित अहि-सा मूर्च्छित भित्ति लगा है।
गदा धरी है एक कक्षमें अष्ट धातु-मय भारी,
जिस पर निर्भय विचर रहीं छिपकलियाँ और किसारी॥

वह विशाल–भुज दीर्घ विलोचन बाँकी मूछोंवाला,
दिन भर सोचा ही करता है अर्जुन बैठा ठाला।
कभी कभी भर रोष हृदयमें 'साधन' को तकता है,
पर पीछे क्या सोच न जाने, मन मसोस रुकता है॥

परिघ-पीन भुज दंड सलवटें कुछ-कुछ जिनमें आई,
उलझा केश-कलाप छाप है चिन्ताकी मुख छाई।
वज्र-सार-सा गठित गात्र वह अविचल वीर वृकोदर,
देख गदा-गति दाँत पीसता शोषित, रोषित होकर॥

अर्द्ध असित-सित श्मश्रु-जाल है उलझे दिन-सम जिनका,
नहीं टूटता एक निमिष भी चिन्ताका क्रम जिनका।
आती-जाती चिन्ताओंने रस्ता चाँक दिया है,
भाल-पटल वर पद-चिन्होंसे सारा आँक दिया है॥

पर, आँखोंमें अविचल सत्य सनातन झाँक रहा है,
धर्म-पुत्रकी सार्थकताको रह-रह आँक रहा है।
अपने दुखसे नहीं बंधुओंके दुखसे दुःखित हैं,
दुखका हेतु समझ अपनेको, चिन्तासे चर्वित हैं॥

नकुल और सहदेव शुद्धचित सरल शिष्य साधक-से,
प्रतिपल अनुमतिमें तत्पर हैं, नैष्ठिक आराधक-से।
काट रहे यों मिल-जुलकर सब दिन अपने कटु-काले,
झेल चुके जितने थे जगमें छोटे-बड़े कसाले॥

आमंत्रित 'द्वारा' से आया उस वेला अलबेला,
प्रापंचिक कर्मोंके सर्पोंका वह सुघड़ सँपेला।
रथसे कूदा सस्मित, हर्षित फहराते वनमाला,
मन पर भार न, भार जगतका लिये, दृगों उजियाला॥

देख उठे तत्काल धर्म-सुत, हरिने भुजा पसारी,
लिपट गलेसे 'धर्म' रो उठे, तज ग्लानि संचित सारी।
चारों ने भी उसी भावसे हरि-चरणों सिर नाया,
पाँचोंकी पाँचोंने पाँचों प्राणोंको सरसाया॥

अधिपति-से होगये विश्वके, शीश छत्र-सा छाया,
चित पर चिन्ता रही न रंचक, तोष-पोष हिय आया।
क्षेम-कुशल सब पूछ परस्पर बैठे हरिको घेरे,
पंच प्राण-से आत्माश्रित वे नियति-नियमके प्रेरे॥

हे भरत-विभूषण, धर्म! किस लिये मुझको,
यों पकड़ मँगाया? कहो, जिस लिये मुझको।"
हँस पड़े पाँचके पाँच वचन रस-मयसे,
दुख-पक्षी पंख पसार उड़े, उपचयसे।

" हे हे मुकुन्द, हम उसको पकड़ मँगावें,
जिसके न चरित कुछ बुद्धि-पकड़में आवें ?
तुम जिस पर करते कृपा पकड़ते उसको,
दुख उसे पकड़ते, तुम न जकड़ते जिसको ! "

यह हमने तुमको पकड़ न यहां मँगाया,
तुम हमें पकड़ने आये, यह मन भाया।
यह भरत-वंश बच जाये जिस-किस विधिसे,
यह भाव हमारा सफल करें जिस विधिसे ॥

वे भोगें सब साम्राज्य जगतमें जीकर,
हम सुखी रहेंगे, खा रूखा, जल पीकर।
बस, पाँच ग्राम ही बसने को मिल जाएँ,
हम बंधु षडोत्तर शत जगमें दिखलाएँ ॥

हे माधव, तुम यह जाकर मेल मिलादो,
यह बैर-आग जिस-किस भी भाँति बुझादो।
हँस पड़े संधिकी भिक्षाकी सुन बाणी,
सुन रही वृत्त सब भरत-वंशकी रानी ॥

हरि बोले—" पीसे गये सदा तुम जिनसे,
हे भरतर्षभ, फिर संधि चाहते उनसे ?
नित सम—बलमें ही संधि हुआ करती है,
सत्सम्मति मत्तोंको न छुआ करती है ॥

यह संधि-याचना कातरता जतलाती,
यह दया तुम्हारी वीरोंको विहसाती।
है मुझको करुणा इस करुणा पर आती,
वे लात चलाएँ, खोल रहे तुम छाती !

तुम बाहें रहे पसार प्रेम-हित उनको,
है गंध सुहाती नहीं तुम्हारी जिनको ।
वे नहीं चाहते तुम्हें देखना जगमें,
तुम उन्हें खटकते काँटे-से, सुख—मगमें ॥

ज्यों महा महिप महिषी के बाल महिप को,
है देख न सकता, शत्रु समझकर उसको।
वे संधि तुम्हारी याचित क्यों मानेंगे ?
उलटा वे तुमको विवश—विकल जानेंगे ॥

नय, दया, क्षमा वा प्रेम, सबल में सजते,
ये सब सद्‌गुण हैं निर्बल में तो लजते।
फिर कितने क्षण तुम प्रजा रहोगे उनकी ?
तुम आँखें हँसती भीम ! सहोगे उनकी ?

यह क्षात्र तेज जो सहज तुम्हारा धन है,
बस धधक उठेगा, जाता कोई क्षण है।
फिर क्यों न प्रथम ही साधन इसे बनाते ?
क्यों धर्म भीरुता अपनी उन्हें दिखाते ?

वे प्रेम न इसको कायरता समझेंगे,
वे साहसमें भर दूने साज सजेंगे ।
लोहेके सँगमें लोह जोड़ खाता है,
गजराज कुसुम-मारोंसे मुड़ पाता है ?

साम्राज्य सरलतासे न कभी मिलता है,
क्या उच्छ्वासोंसे विकट लोह गलता है ?
मैं नहीं चाहता वसुधा लाल कराना,
मैं नहीं चाहता भू-शृंगार हराना ॥

पर, दीख रहा है मुझे कालका हँसना,
कृत्योंसे उनके, लालायित यम-रसना ॥
मैं जाऊँगा सह शान्ति, शान्ति-चर होकर,
मानससे अपने पक्षपात सब धोकर ॥

हैं पांडव नित निर्दोष, शान्ति-अभिलाषी,
है गदा भीमकी नहीं रक्तकी प्यासी ।
यह शुद्ध ध्येय संसार सकल जानेगा,
हैं पांडव कितने सरल, सहज मानेगा ॥

बस, यही एक है लाभ वहाँ जानेमें,
हूँ मैं तो संशय रहित विफल आनेमें ।"
तब कहा धर्मने—"कृष्ण, सत्य यह बाणी,
पर करता क्या जगमें न पराजित प्राणी ?

है इसी लिये हम पांचोंने यह ठाना,
निज जीवन काले कर्मों-रहित विताना।"
कुछ बोले अर्जुन-भीम न अनुमत होकर,
थे आर्य-समर्पित, आत्म-भाव सब खोकर॥

अच्छा, तथास्तु, मैं कल प्रातः जाऊँगा।
यह लाभ कि बूआ-दर्शन कर आऊँगा॥"

केश-दर्शन

धधक रही कवि की कविता-सी उलझी पाटव लच्छी,
फड़क रही है वेबस फड़-फड़ पखिनी—सी वेपच्छी।
भादों की-सी आग सुलगती, दगों चुमासा रचती,
बैठी द्रुपद-सुता कोनेमें, ताप-तैलमें तचती॥

हीरक-विजटित मुकुट भाल वर, अलकें लोलित काली,
सुधा सींचता, द्युति दमकाता आया घन वनमाली।
मूर्त्तिमती करुणा कृष्णाको देख कृष्ण हहराये,
देख कृष्णको दग कृष्णाके करुणा-जल भर लाये॥

"भैया! तुम भी यों विसरोगे, यह न मुझे थी आशा,
तुम तो मुझ जलती पर जब-तब बने सरस चौमासा।
सावन भी वैसाख बन गया! मेरे दिनका प्रेरा,
सुध तक लेनी भूल गया, उर हुआ न करुणित तेरा॥

बहन दुखी हो, बन-बन डोले, भैया महलों झूले ?
ग्रास-ग्रास को मैं भटकूं, तू चुगता फूले—फूले ?
'आप सुखी, संसार सुखी', यह उक्ति सत्य अब जानी,
कृष्ण, तुम्हारी आँखोंका यह झूठा है सब पानी ॥

जो कुछ बीती, सही, सह रही, आगे भी सहलूँगी,
जो सुनना ही नहीं चाहता, क्या उससे कह दूँगी ? "
टूट चला कृष्णाके उरका बाँध, रुका वर्षोंका,
प्रबल वेगके सन्मुख पौधा टिक न सका सरसोंका ॥

बँधी हिलकियाँ दोनोंके ही सुध-बुध भूल रहे हैं,
स्नेह-शाख पर ये दो पक्षी हिल-मिल झूल रहे हैं।
" कृष्णे ! तुमने मुझे दूसरा समझ लिया कुछ क्षणमें ?
इतना कर्कश कशा लगाया, भिगो दृगोंके कणमें ? "

" तुझको दूं न उलहना तो मैं और किसे दूं भैया !
भाई हो मल्लाह, बहनकी यों अटके फिर नैया ?
वे पिछले उपकार याद कर तुझे दोषती हूँ मैं,
अब क्यों मैं होगई दूसरी ? यही सोचती हूँ मैं ॥

शत-शत मेरे रही दासियाँ आगे भरती पानी,
इंधन चुगती फिरे आज यह भरत-वंशकी रानी ?
मुझको ' द्रुपद-सुता ' सुनते भी आज लाज है आती,
एक भर्तृका भी न जगतमें इतनी तो दुख पाती ॥

इन दुःखोंसे दुखित न उतनी, जितनी इन लटियोंसे,
खोल दिखाई रूखी, उलझी अलकें कन-पटियोंसे।
तेल और कंघी न छुवाई है इनको उस दिनसे,
यह चांडाल—करोंसे स्पर्शित हुई आह! जिस दिनसे॥

ये सुलझेंगी उसी दिवस बस, जिस दिन, दिन सुलझेगा,
इनके कर्षकका इनकी—ज्यों प्राण—जाल उलझेगा।
सच मानो हे गिरिधर! दुःखोंसे न चलित मैं होती,
इस बेनीको देख-देख कर रात-दिवस हूँ रोती॥

एक न मैं ही, दूजा पांडव दिन-दिन छीज रहा है—
नदी-कूल-सा, चावलकी ज्यों पल-पल सीझ रहा है,
भोजनके पश्चात न हा! वह मूछों हाथ परसता,
मानो भोजन किया न उसने, तुष्ट न कभी दरसता॥

उसकी कड़ी प्रतिज्ञा उसका भीतर सिझा रही है,
उसको निर्दय नियति दुखी लख पल-पल खिझा रही है।
महावीरके हाथ जकड़ने आज जा रहे तुम भी?
रणका होना, 'अनुचित-अनुचित' यही गा रहे तुम भी?

पर, मैं पूछूँ द्वारकेश, यह संधि किसे सुख देगी?
आग वृकोदरकी न और भी क्या दूनी भभकेगी?
चले आज तुम संधि कराने, या कि मान बिकवाने?
'जीते ही मर गये पंडु-सुत' जगतीसे कहलाने॥

आदि वर्णका हृदय ‘ आदि ’ ने पाया है सहलेंगे,
पर, क्या तीन्ने के शर इसका उचित न उत्तर देंगे ?
संधि टूटती पुनः फिरेगी, यह भी खो जायेगी,
लाज हाथसे छुटी न यह फिर हाथ कभी आयेगी ॥

यह भी मानूं, पाँचों जगके बोल-बचन सहलेंगे,
बँधे एक से एक—कष्ट-मय जीवन लय कर देंगे।
पर, मुझको न भरोसा मेरा, कब रण कूद पड़ूंगी,
व्यंग-वचन सुन घोरानीके, जीती जगत फिरूंगी ?

फिर ये कहाँ छिपायेंगे मुँह, कौन धर्म ओढ़ेंगे ?
टूटेंगे सब नियम-धर्म खुद, ये न भले तोड़ेंगे।
हे मुकुन्द ! मैं ज्वलित प्रतिज्ञा वर्षोंसे सेती हूँ,
चने भूँजनेको मैं पल-पल बनी तप्त रेती हूँ ॥

मुझको जघनों पर बैठाने वाला, बैठे आसन !
भाल सिंदूरी बिन्दु लगायेगी भार्या दुःशासन ?
हे हे अशरण-शरण ! देखना मैं हूँ रक्ष्य पुरानी,
ये भूलें, पर, तुम न भूलना मेरी करुण कहानी ॥

तीन शरण मम आज, चरण ये, या रण, प्रबल हुताशन,
मेरे श्वासोंमें बाधक हैं दुर्योधन-दुःशासन। ”
खड़ी झुक गई चरणोंमें वह, तप्त अश्रुकण-झरती,
उठी हथेली कृष्ण-चन्द्रकी, उसे हिमानी करती ॥

"कृष्णे ! जल्दी सुलझेंगी ये तेरी लटियाँ काली,
देखोगी तुम धोरानीका भाल बिन्दुसे खाली ।
दुःशासनकी भामा कंघी अब केशों रख लेगी ?
तेरे केश-प्रकर्षक-करकी कोमलता परसेगी ?

इन बहती आँखोंका पानी खाली हो जायेगा,
कौरव-कुल-वधुओंकी आँखों द्वारा हो आयेगा ।
खड़-खड़ हँसते रहे तुम्हें जो दाँत, वही श्वानोंके—
पंजों-बीच पड़े देखोगी, मुर्दों-मरदानोंके ॥

नग्न किया जो तुम्हें चाहते रहे, शुभे ! पांचाली !
मृतक-वस्त्र उनको न मिलेंगे, मुँह चूमेंगी श्याली ।
यदि जगतीमें पापोंके फल, पुण्योंके-से आयें,
इस धरतीके स्तम्भ भला फिर किस आश्रय ठहरायें ?

उनके कृत्यों को लखकर ही तुम्हें शान्त करता हूँ,
ठहरो किंचित् काल और तुम, काल क्रान्त करता हूँ ।
शान्ति-दूत मैं होकर जाता, तदपि न मुझको आशा,
महाकालकी चौसरका तुम लखना खड़ी तमाशा ॥

गोट बनेंगे सिर शूरोंके, पार्थ-शरोंके पासे,
ये वे पासे नहीं, जिन्होंने तुझे हारदी आशे !
धैर्य धरो अब, अश्रु न डालो, देखो क्या होता है,
देखें सत्यासत्य-समरमें अन्त कौन रोता है ?

पहले तो हँसता असत्य है, हुआ अंध, अभिमानी,
आती विजया दशमी उजली करने यही कहानी।
द्वापरमें बन चले हस्तिनापुर दशशिर-रजधानी,
खांडव-दाहक के बाणों से गूँथूं नई कहानी॥

धैर्य रखो तुम, जाता हूँ मैं." कहकर तुरत सिधारे!
शान्त हुई कृष्णाने मूँदे निज लोचन अनियारे॥

प्रज्वल प्रस्थान

मद उन्मत्त मतंगों को वनमें विचलाने,
पांचजन्य कर घोष चले हरि आग बुझाने
गरुड़ध्वज रथ सूर्य-रश्मि-सा घन तम-तनमें,
घर्घर करता घोष, घुसा घनघोर विपिन में॥

घोड़स टापों की दृढ़ गति से धरा धड़कती,
वन की छाती उच्छ्वासित-सी, सभय तड़कती।
सहज चपल कपि-वृन्द चित्र-से टिके वहीं पर,
देख रहे-' यह सूर्य आगया कहाँ मही पर!'

शुंड लपेटे शाखाओं से ज्यों के त्यों ही,
रहे ताकते करिवर हरि के रथ के सौंहीं।
भूले सिंह छलाँग, सुना जब रथ-रव घर्घर,
कुछ पल को होगया बन्द, विटपों का 'मर्मर'॥

मानो वन भी श्रवण-निरत रथ की सुरागिनी,
विपिन-धरा अनुगमन कर रही वन सुहागिनी।
अश्वों का निःश्वास दूर तक है सुन पड़ता,
पलित पीत तरु-पत्र अचानक पथ में झड़ता॥

पथके पार्श्वो पीत पादपोंकी सुटहनियाँ,
चुम्बन करतीं रथ-केतन को, दे जल-कनियाँ।
रथ-तोरण लद गया विपिनके कुसुम वरोंसे,
मानो करता न्योछावर वन नेत्र, करोंसे॥

स्वच्छ सलिल सर, सरिताओं-मिस वनस्थलीने,
अर्घ्य दिया,गुण-गान किया मिल अलि-अवलीने।
नभसे वन-अवलीने पथकी धूलि दबाई,
मानो वातुल वसुधाको दी सरस दवाई॥

हुई आर्द्रिता भूमि सघन बूंदोंको पाकर,
शीतल छाती हुई चक्र-चय-चिन्ह चिताकर।
लीक उघड़ती जातीं दो यों रथकी भूपर,
मानो सूकर-दाँत चिन्ह वे आये ऊपर॥

याद दिलाती हैं पिछली उद्धरण कथाको,
'पुनः हटादो भार, मिटादो नाथ! व्यथाको।
पवन दौड़ती बहुत, पकड़ पाती न हयोंको,
समुत्कर्ण, ललकार-भीत उन त्वरा-मयोंको॥

केतन-पटको पकड़ पवन झकझोर रही है,
पीताम्बरका छोर छझसे चोर रही है।
लो, वह दरसा महा नगर नव कलशोंवाला,
करता है जो अट्टहाससे, नभ उजियाला॥

धवल धाम अभिराम गवाक्षोंवाले दरसे,
जिन्हें देखकर अमरनाथके लोचन तरसे।
इन वल्मीकों बीच वास करते हैं काले,
पांडव-दंशक, गरल-दन्त, दो जीभोंवाले॥

गरुड़ध्वज-आरूढ़-गारुड़ी चला जा रहा—
निर्भय निपट नितांत, निकट पुर स्वयं आ रहा।
वन्य-धूलिसे भरी हुई हैं अलकें काली,
सघन, स्निग्ध, कुछ सनी हुई हैं पलकें काली॥

हृदय-ग्रंथका पाठ नेत्र-विज्ञोंकी वाणी,
प्रस्फुट करने लगी—देखकर वह रजधानी।
'आह' अनय, अभिमान, अधर्म यहाँ पर सोये!
धर्म, सत्य, शुचि भाव पड़ा कुटियामें रोये!

पाप सुरामें मत्त, पुण्य पानीको भटके!
'छलता' गटके माल, सरलता सिरको पटके!
सहृदयताके करुण रुदन पर हँसे क्रूरता!
पनपें कुटिल करीर शुष्क हो सोम्य शूरता॥

यहाँ दशा यदि रही, नरक जग हो जायेगा,
साधु जनोंका भाव धर्मसे खो जायेगा।
लग जायेगी आग पूत भावोंके वनमें,
रक्त रहेगा कहाँ, दग्ध जनताके तनमें?

नहीं, नहीं, यह नहीं कदापि नहीं होसकता,
कोई कितने दिवस बीज विषके बो सकता?
मान मर्दकोंका मथवादूं मर्दित-हाथों,
चर्वक गणको चर्व्य बनादूं चर्वित हाथों॥

मुकुट-धरोंके मुकुट ठोकरोंसे उड़वादूं,
दीन-रक्तसे भरी बोतलें ये फुड़वादूं।
आँख न खुलती जिनकी, उनके आँख बनादूं,
चिड़ियोंकी चोंचोंसे बाजोंको नुचवादूं॥

इन महलों में ला कुटियों का जगत बसादूँ,
हँसने वाले रुला, बिलखता जगत हँसादूँ।
यदि माने 'मत' ये न कालके प्रेरित मेरा,
देखेगा संसार, काल का इसमें डेरा॥

* * *

है आज हस्तिनापुर का हसन निराला,
ज्यों चिरतम-आवृत्त घर में खिला उजाला।
कुछ कम न हुई है स्वागत की तैयारी,
लख अवसर, कौरव कृत्रिम बने पुजारी॥

वह राज-नगर का महाद्वार अति ऊँचा,
नव पुष्पों की माला से सजा समूचा ।
फहराता जिसके ऊपर गर्वी केतन,
लहराता जिसमें अहं भाव बन चेतन ॥

पुर, हाट-बाट, चौहाट, चौंतरे, गलियाँ,
जल-सिंचित, कुसुमित सजीं सकल देहलियाँ ।
अति भव्य भूरि भारत का विभव-प्रदर्शन,
श्रीकृष्ण हेतु सजवाया नव्य निकेतन ॥

देने को सुन्दर भेंट, रत्न-धन नाना,
गज, अश्वों का रच रक्खा मोहक थाना ।
ले गुरुजन, परिजन, और नगर-जन सारे,
स्वागत को आया, खड़ा सुयोधन द्वारे ॥

जब आया द्वार-समीप यान माधव का,
दारुकने अपने घोड़ों को कुछ ठबका ।
हरि कूद पड़े, लख सम्मुख उज्ज्वल डाढ़ी,
कुछ कम न पितामह की उर-सरिता बाढ़ी ॥

वे लगे लूटने पद-विभूति आपस में,
जो विज्ञ महिम थे, वे न रहे सुधि-वशमें ।
हरि मिले सुयोधन से निज वक्ष लगा कर,
यों किये हरे सब स्नेह-सुधा बरसा कर ॥

कुरु-कुल के अगुआ वीर, युवक रंगीले,
चढ़ वाजि वरों पर आगे चले सजीले।
बजते हैं नाना वाद्य गगन गुंजाते,
घनश्याम यान चढ़ चले, छटा बरसाते ॥

जो गुरुजन थे, वे सजे सकल यानोंमें,
चल पड़े मेव बन, मोद-भरे प्रानोंमें ।
नर और नारियोंका न समुद्र समाता,
श्रीहरिका सुन्दर पोत न द्रुत गति पाता ॥

हैं उमड़ रहे प्रासाद बड़ी आँखोंसे,
पुर बना अक्षि-मय अमित अड़ी आँखोंसे।
जब माधव हर्षित नयन देखते उनको,
वे मयन और ये अयन देखते उनको ॥

कल किलक रहे वर बाल अंक-गत शोभी,
ये कुमुद मचलते अहा! चन्द्रके लोभी ।
श्रीभीष्मपितादिक के न यहाँ पर मन हैं,
वे संधि-विषयमें चिंतित हैं, तन्मन हैं ॥

हरिका न ध्यान है भूत और भावीपर,
सुख बाँट रहे हैं दर्शक जनको, तत्पर ।
यों नगर–भ्रमण–मिस मोद–मेह बरसाते,
हँसते–से हर्षित हुए, हृदय हर्षाते ।

जा पहुँचे सबके साथ महा महलोंमें,
उन हीरक, माणिक, हेम जटित शैलोंमें।
सुन, आया द्वापर-देव, द्वारका वाला,
दृग-दीनोंके होगया हृदय उजियाला ॥

उन राज-पिता, माताने अब दुख माना,
निज नेत्र-हीनता-दुख न प्रथम था जाना।
हरि गये समातुर हुए, जहाँ गांधारी,
थी पल-पल जिसको एक, कल्पसे भारी ॥

जा पूत पदोंमें निज पावन सिर नाया,
ज्यों गंगामें भावुकने पुष्प चढ़ाया।
उस मोर-मुकुटको झुका देख पावोंमें,
उर बाँध तोड़ कर जल आया नावोंमें ॥

वह क्या दे आशीर्वाद? स्वयं ने पाया।
यह जिसके आशीर्वचनोंकी सब छाया ॥

फिर श्वेत-श्मश्रु धृतराष्ट्र-पदोंमें जाकर,
निज शीश नवाया हरि ने नाम बताकर।
कुछ बोल न पाये भूप, प्रेममें विह्वल,
जल निकल चला आँखोंसे निर्मल शीतल ॥

'हे द्वारकेश तुम आये?' इतना कहकर,
गल रुद्ध हुआ, उभरी न गिरा बस बहकर।
माधव ने पूछा वृत्त स्वयं बतलाया,
सुन बचन भूपकी हुई सुशीतल काया ॥

फिर यथायोग्य हरि मिले-जुले प्रति जनसे,
उर सबके शीतल किये वचन-वर्षणसे ।
बरसा कर शीतल वारि अबे पर वारिद—
हरता ज्यों वनका दुर्दम दावा-दारिद ॥

कर सबको मान-प्रदान, लिये मन सबके,
सब मान रहे हैं माधव अपने ढबके ।
फिर ध्यान हुआ उस धर्म-प्रसू दुखिनीका,
भ्रातृव्य-भावना-भरी, पिता-भगिनीका ॥

वर्षोंसे धूआँ उगल रही उपलीका,
फल-हीन हुई उस जीर्णा शुष्क फलीका ।
'वह द्वारकेश श्रीकृष्ण, न कहनेवाली,
'रे कान्हा आया'! कह कर बहने वाली ॥

अपूर्व आतिथ्य

श्रीकृष्ण प्रेमसे भरे, चावमें उमड़े,
चल पड़े विदुर-घर भाग्य भक्तके उघड़े ।
थी भक्त विदुरकी भामा परम सयानी,
सब भाँति सुशीला, सरला मृदुला वानी ॥

सुन रक्खे थे श्रीकृष्ण-चरित सब उसने,
कुन्तीसे—उरमें रखे हरित सब उसने ।
लेते थे उरके भीतर सरस हिलोरे,
भर आते जब-तब उत्सुक नयन-कटोरे ॥

मन सीझ चुका था प्रेम-आँचसे उसका,
मन शुद्ध हुआ था शुद्ध काँचसे उसका।
पर, कभी न उसने ऊपर वह झलकाया,
वह मनका मानिक पति तकको न दिखाया ॥

जब सुना कि आया आज हस्तिनापुरमें,
बढ़ चली विकलता-नदी अकूलित उर में।
"वह मेरे घर में तो न यदपि आयेगा,
पर, वृद्धा का तो ध्यान उसे लायेगा ॥

कर लूंगी नेत्र निहाल दूर से लखकर,
कृत-कृत्य बनूंगी प्राण भेंट में रखकर।"
इन भावों में कर रही स्नान विदु-रानी,
जिस स्थिति को भटका करते योगी, ज्ञानी ॥

देखा कि विदुर निज साथ लिये आते हैं,
वह कर्ण-सुनी छवि नेत्र देख पाते हैं।
जो हुई दशा उस काल गेहिनी-मन की,
क्या कलना कर दे कलम कड़े इंधन की?

'मैं इसको दूं अब कौन ठौर आंगन में?'
क्या करे सुस्वागत, मति न रही शासन में?
है आँखों में जल-ज्वार, हृदय में आंधी,
वह रही वहीं की वहीं मंत्र से बाँधी ॥

हो गया हृदय बस हरि का पानी-पानी,
यों देख प्रेम की जलती प्रगट निशानी।
'तुम महा मूढ़ हो, लाओ जल्दी आसन'
यों किया विदुर ने उस बेसुध पर शासन ॥

वह प्रेम-जौहरी बैठा वहीं शिला पर,
कर सका न उसको इतना आदृत द्वापर।
निज मणि-मय मोहक मुकुट उतार टिकाया,
जिस पत्थर पर वह धोती थी पग, काया ॥

झट दौड़ विदुर भीतर से आसन लाये,
'इस पगली को क्या कोई कह समझाये'
'हे विज्ञ विदुर! मैंने है आसन पाया,
इस पगली-द्वारा, मेरे मन का भाया ॥

इसने वह मुझको आसन अतुल दिया है,
बिक जाता जिस पर मेरा सहज हिया है।
तुम कितना भी सत्कार करो, क्या ऐसा?
इस सरलाने कर तृप्त दिया है जैसा ॥"

वह सुध में आई, हुई संकुचित भारी,
'मैं बजमारी' यों कह निज को धिक्कारी।
श्रीकृष्ण उसीसे लगे प्रथम बतलाने,
घुल-मिल कर उसकी सुनने और सुनाने ॥

फिर हुई विदुर से निज-पर विषयक बातें,
सब सुनी कौरवों वाली काली घातें।
करते थे उनसे बात, हृदय जाता था—
रह-रह कर बूआ-ओर, न कल पाता था ॥

'हे विज्ञ! बताओ कहाँ हमारी बूआ?
है दुख-मय जिसका युगसे रूआँ-रूआँ।'
भर आया सहसा नीर दृगों में, हरि के,
मानो है धरती नहीं पगों में हरि के ॥

'उठ लखिये हे गोविन्द, न बतला पाऊँ,
धृति और तितिक्षा होगी सुनी, दिखाऊँ।
वे रहती हैं एकान्त बसी कोने में,
दृग बन्द किये दिन रात, हृदय धोने में ॥

करती हैं ईशाराधन बन उपवासी,
क्या कर ले कोई ऐसा तप वनवासी?
उठ चले विदुर के साथ समुत्सुक होकर,
अध-मुँदे विलोचन, सुध-बुध अपनी खोकर ॥

कर अँगुली का निर्देश बताई उनको,
वह दल-विहीन तुलसी दिखलाई उनको।
है सूखा सारा गात्र सलवटों-छाया,
करुणा की मानो साँस ले रही काया ॥

सब लटी-जाल है श्वेत, गात्र निश्चल है,
मन ब्रह्म-सिंधु में मग्न, हुआ निर्मल है।
यह धर्म, धीर, बल-विक्रम जननेवाली,
यह जग-बेलों में अनुपम फलनेवाली ॥

यह क्षीण हो चली आज जाह्नवी-धारा,
आः पांडु वर्ण हो रही पांडु की दारा।
यह द्वापर की है देवहूति तप करती,
यों देखी तपती ताप, धर्म की धरती ॥

सिर झुका दिया माधव ने पूत पगों में,
वह स्पर्शित होकर बिजली गई रगों में।
जिस ब्रह्म-विटप की छाँह बैठ तपती थी,
जो महा कामना लिये, नाम जपती थी ॥

उस महा विटप का फल मानो झड़ आया,
गोदी में सुन्दर, सरस, सद्य मन भाया।
दृग खोले उज्ज्वल, शिथिलित, विस्मित होकर,
लखती है—कान्हा पड़ा प्रवर्पित होकर ॥

झुक जाता जैसे पाकर अन्न भिखारी,
ज्यों चिर हारा, धन जीते अमित, जुआरी।
झुक गई भुजाएँ खोल, ढहाकर छाती,
फट जाती जो हरि का न समाश्रय पाती ॥

वह रही लगाए कुछ पल हरि को छाती,
हो गई शीत, हिम, स्निग्ध, न कुछ कह पाती।
झर चले नयन युग, फर-फर अधर फरकते,
निज वत्सों के सब दुखड़े हृदय करकते॥

'वे सकुशल हैं हे बूआ! मैं आया हूँ—
मिल करके उनसे—यत्न एक लाया हूँ।
तुम धैर्य रखो, जिस भाँति रखा है वर्षों,
सच मानो फूफी! फिर फूलेगी सरसों॥

ये पनपरहे जो आज करीर कँटीले,
सब होंगे इंधन देखो रंग-रँगीले।
'रे कान्ह! हुई मैं परम सुखी, तू आया,
हैं नेत्र शीत, लख मा-जाये का जाया॥

ये प्राण रहे हैं एक भरोसे तेरे,
तुझ बिना बताऊँ किसे, बता दुख मेरे?
सिर पर से जिनके हटी पिता की छाया,
पर-हाथों से घृण-ग्रास जिन्होंने खाया।

बचपन से जिन पर विपदा-बदली छाई,
वे जीवित हैं सुत मेरे? अरे कन्हाई!
वह निश्चल, सरल सपूत युधिष्ठिर मेरा,
आता था जिस को अघ के नाम अँधेरा॥

उस धर्म-भीरु को आँखों लख कर आया ?
मुर्झाई होगी भीमसेन की काया ?
मैं सुख की तो क्या पूछूं उस अर्जुन की ?
बस, जीते हैं, यह सुखद कहानी उनकी ॥

वे मेरे दो दग, माद्री के सुत प्यारे,
हे कृष्ण ! विलोके तुमने दीप हमारे ?
वह द्रुपद-सुता पलनों में पलनेवाली,
किस भाँति बिताती बता दशा निज काली ?

" निज आँखों तूने देखी भी थी उसको ?
पढ़ आँखें उसकी, लेखी भी थी उसको ? "
" हाँ, फूफी ! वे हैं सुखी किसी विध सारे,
तुम धैर्य धरो, दिन आये शान्त तुम्हारे ॥ "

' हे कृष्ण ! धैर्य की सीमा भी कुछ होती ?
क्या मर जाऊँगी यों ही रोती-रोती ?
यह राज्य भाड़ में जाय, अबे में धरती,
निज पुत्रों में तो रहूँ, कष्ट कम करती ॥ '

" हे वीर-जननि ! कल निर्णय होगा इसका,
कल देखो, होता दैव रुष्ट है किसका ?
मैं शांति-हेतु, बन संधि-दूत आया हूं,
मैं मांग स्वल्प से स्वल्प साथ लाया हूँ ॥

यदि मान गये वे चोखे दिन के प्रेरे,
तब ठीक—नहीं तो देखोगी कर मेरे।"
इस भांति विविध वचनों से वह समझाई,
की शांत क्षणिक—कुछ जलती आग बुझाई॥

संधि-सन्देश

बीती विभावरी, ब्राह्मी वेला आई,
तम-हृदय चीरती प्राची दिशि मुस्काई।
कर नित्य कर्म, दे दान-मान विप्रोंको,
दे अर्घ्य मित्रको, लिये साथ मित्रोंको॥

कुरु-सभा बीच चल पड़ा जलद जलवाला,
बरसाने नैतिक नीर नितान्त निराला।
थी लगी वहाँ पर सभा, प्रभा हीरोंकी,
मुकुटोंकी हँसती पाँति, छटा वीरोंकी॥

थीं होम-धूम्रसे पिंगल अमित जटाएँ,
झुक आई मानों झरने स्वर्ग-घटाएँ।
वे स्वच्छ-काय, मन, श्वेत श्मश्रुओंवाले,
राजर्षि सुशोभित टिके, खोल दिवि ताले॥

भारतका वैभव ताल तरंगे देता,
बैठे थे कितने गर्वित जहाँ विजेता।
जा लोकपाल-से लोक-सभामें सोहे,
श्रीकृष्णदेवको देख सकल जन मोहे॥

ज्यों यज्ञ-भवन में यज्ञ-देव धर काया,
ज्यों नक्षत्रों के बीच चन्द्रवर आया।
बिखरी सुगंध शुचि हास सरसता भीनी,
सुर-तरुओं के पुष्पों की शोभा छीनी॥

कर वन्दन ऋषियों का उर परमानन्दित,
हरि हुए स्वयं भी विविध भाव से वन्दित।
वन-राज चतुर्दिक देखे ज्यों वन-राजी,
हरि देख रहे त्यों राज सभा सुभ्राजी॥

खर रश्मि फेंकते हुए तरणि पर जैसे—
घनश्याम विराजे सिंहासन पर वैसे।
सब सभा हुई अनिमेष रोक मन, वाणी,
सुनने को नव सन्देश, गिरा कल्याणी॥

धृतराष्ट्र समुत्सुक कर्ण-विवर वर खोले,
भावी के सुनने बोल, रोक मन-झोले।
भगवान उठे यों सस्मित सिंहासन से,
हवि देव हुए ज्यों प्रकटित सर्वाशन से॥

जिस भाँति क्षितिजका चीर, चीर कर-माली,
करता विकीर्ण निज किरणें, त्यों वनमाली।
श्रुतिमधुर, सहज गंभीर, पावनी वाणी,
तम-तोम-हारिणी, तेज-मयी कल्याणी॥

अति उत्सुक लख उस राज महा परिषदको,
हरि बोले, हरते भ्रमको, तमको, मदको ।
" हे भरत-वंशके महा पुरुष वर वीरो !
हे कुरु-कुल-मंदिर-कलश ! पुण्यजन धीरो !

उन पाँचोंका मैं प्रतिनिधि भेजा आया,
लो नमस्कार तुम उनका सरस सवाया ।
दो अपना आशीर्वाद, हृदय-पट खोलो,
जो कहूं, उसे तुम न्याय-तुलापर तोलो ॥

यदि कहूँ अहित-मय, पक्षपात-युत बाणी,
दें शाप मुझे रण-शूर-सती क्षत्राणी ।
यदि कहूं न्यायसे हीन, सत्यसे खाली,
इन ऋषियोंकी भ्रू चढ़ें महा तपवाली ॥

मैं खड़ा तपस्वी और मनस्वी गणमें,
मैं ब्रह्मचर्यके सम्मुख हूँ इस क्षणमें ।
तप, न्याय, नीति, शुचि, धैर्य सामने मेरे,
श्रुति अलख और भी सुनते हैं बहुतेरे ॥

वे माँग रहे अधिकार आज हैं अपना,
तप चुके बहुत वे समझ एक सब सपना ।
वे धर्म, नीति, अनुराग, सत्य, तप-शाली,
हैं पांडव निखरे आज राख तज काली ॥

वे शाण खरादे हुए विमल हीरे हैं,
स्तर कम न उन्होंने दुःखोंके चीरे हैं।
हैं अन्तरिक्षके और मर्त्यके लोचन,
सब देख चुके हैं उनका विभव-विमोचन ॥

वे अमित अनुचरोंके पालक, अधिकारी,
वे धर्म-बद्ध हो भटके बने भिखारी ।
इस मर्त्यलोकमें एक अहो! धर्माश्रय,
वह धर्म-पुत्र ले जीवन फिरा निराश्रय ॥

बतलाएँ, कोई शूर यहाँ अर्जुन-सा,
वह रम्भा-मोहक, आज बना है तृन-सा।
रख दिये बाण हैं उसने सब कागज-से,
क्यों? पूछो जाकर कोई उस कपिध्वजसे ॥

जिसकी न भुजाओं में बल रहा समाता,
वह आज दुखी खुद भीम, पराश्रय-दाता।
जो द्रुपद-भवन में रही पालनों सोती,
वह सैरंध्री? आः आहें भर-भर रोती ॥ "

जिस काल कढ़े ये वचन, धीर जन रोये,
श्री भीष्म पिता के सौ-सौ आँसू जोये ।
"क्या निर्बल से भी निर्बल जन, पत्नी को—
लख सकता होते नग्न, रोक कर जी को?

यह धर्म, सत्य-मर्याद नहीं तो क्या है ?
यदि कहें भीरुता, तो अन्याय महा है ।
वे रखते थे सब शक्ति, अभी रखते हैं,
पर, हरिश्चन्द्र क्या कष्ट न सह सकते हैं ?

था उनको इष्ट न रक्त-राज्य अपनाना,
यह भाव हुआ उनसे न अभी बेगाना ।
यह कहदे परिषद, कौन राज्य-अधिकारी ?
इन युगल वरोंमें कौन न्याय-पथ-चारी ?

म मागध क्यों बन रहा, बताओ उनका ?
उठ, कोई कुछ तो दोष दिखाओ उनका ?
हो जिसका सच्चा स्वत्व उसे ले कोई,
यह नीति किसे है मान्य, बतादे कोई ?

वे मांग रहे हैं अपना, अपने-पनसे,
कुछ दैन्य भावसे भी न अरुण लोचनसे ।
वे करेत हैं अनुरोध प्रेम रखने को,
वे बंधु षडोत्तर विश्व बीच लखने को ॥ ”

“ सौंपदो हमको आज हमारा ।
जब हम निरे निपट थे बालक,
तब तुम बने राज्यके पालक ।
अब हम हुए योग्य संचालक,
कब हमने प्रण हारा ?

जो बीती सो सकल सह गये,
धर्म-धार में स्वयं बह गये।
दोनों के इतिहास रह गये,
एक मधुर औ खारा ॥

कहीं अरुण इतिहास न होवे,
भरत-वंशका नाश न होवे।
जगती में परिहास न होवे,
हमने यही विचारा ॥

भीरु, भीत हमको न समझना,
पर का माल न होता अपना।
पड़े कहीं तुमको न कलपना,
फिरें विलपती दारा ॥

हाथ मिलालो अब अवसर है,
काल-घाव फिर अति दुर्भर है।
पुष्पित प्रेम अभी तरुवर है,
धरो न इस पर आरा ॥ ”

“ तुम प्रेम-विटप पर धरो न राजन्! आरा,
लो बचा अभी भी भरत-वंश यह सारा।
कल क्या जाने हो जाय काल के हाथों,
यश लेलो, दंशित हो न काल के हाथों ॥

सुन रहे गैब के बोल, गजब के मारे,
दुर्योधन, शकुनी, कर्ण आदि भट सारे।
पर, उनके मन की गाँठ न रंचक सरकी,
उलटी बस भौंहें चढ़ीं, भुजाएँ फरकीं ॥

“ हे कुरु-कुल-शेखर भीष्म, भीष्म व्रत-धारी !
हे राजपितः धृतराष्ट्र, न्याय–अधिकारी !
हे पार्थ–प्रपूजित पाद-पद्म तेजस्वी !
गुरु द्रोण आदि हे तेजोमय ब्रह्मर्षी !

सब सुनलो उनकी माँग जो कि मैं लाया,
लख लेना उनका हृदय प्रेम-सरसाया। ”
उत्कर्ण समुत्सुक हुआ शकुनि का मंडल,
ज्यों फणा उठाता फणी मार कर कुंडल ॥

“ हे पूज्य पितामह, महापितः ! जन सारे,
हे बंधु सुयोधन आदि स्वजन गण प्यारे !
हम मेल चाहते, नहीं राज्यकी इच्छा,
हम भाव चाहते नहीं चाहते भिक्षा ॥

इन प्रासादोंमें तुम्हीं बसो अब सुखसे,
हम हाथ बनेंगे, बने रहो तुम मुख-से।
तुम भुजा बनो हम पाँच अँगुलियाँ होंगे,
तुम दूध बनो हम मिश्री-डलियाँ होंगे ॥

तुम देह बनो हम पाँच इन्द्रियाँ होंगे,
तुम धर्म बनो हम रत परिचर्या होंगे।
हम नाव बनेंगे कर्ण-धार तुम होना,
यों होंगे हम भी पार, पार तुम होना॥

इस क्षण भंगुर जगमें न विभव कुछ अपना,
यह माया है, यह धोखा है, यह सपना।
हम पूज्य पदोंमें पड़ा चाहते रहना,
हम बंधुवरोंका हाथ चाहते गहना॥

हम छोटोंपर हैं स्नेह चाहते रखना,
निज अँगुली उनको गहा, पार पथ करना।
हम सच कहते हैं मनमें रिस न हमारे,
हम सुधा चाहते, मनमें विष न हमारे॥

दो पाँच ग्राम ही हमको बस, बसनेको,
कुछ राज-वृत्तिसे तन-दीपक चसने को।"
सुन पाँच ग्रामकी माँग साधुजन सारे,
"वाः धन्य-धन्य हे पांडव!" वचन उचारे॥

उस परिषद भरमें सन्नाटा-सा छाया,
सुन महा त्याग यह, झूमी नभकी काया।
"कुरु-राज, कहो क्या इस पर कथन तुम्हारा?
जो भीतर हो सो रखदो मीठा-खारा॥"

सुन वाक्य जनार्दनके दुर्योधन बोला,
कर्पूर-कूट पर यथा आगका गोला ॥
" सुन चुका आपकी और उन्होंकी बाणी,
गोविन्द, भरेगी पानी ही वह रानी ॥

वे पाँच ग्रामकी भूमि याचते मुझसे ?
वे दया-योग्य हैं ? दया चाहते मुझसे ?
दूं सुई-नोकके भी न बराबर धरणी,
वे करें, कराएँ, जो करतूती-करणी ॥

दूं पाँच बास क्या, पाँच ग्रास भी उनको ?
है अब तक मुझसे भीख-आश भी उनको ?
क्या याचक जनने लगीं अरे ! क्षत्राणी ?
यदि रखते हैं तो दिखलाएँ वे पानी ।

वे और उन्होंके सुनलें संगी-प्यारे,
है मेल नामकी वस्तु न पास हमारे । "
सुन दुर्योधनके बोल, सभा शर्माई,
धिक्-धिक् की बाणी भीतर पड़ी सुनाई ॥

कब होती मद की और सत्यकी संधी ?
जो मेल समझती, मति नितान्त वह अंधी ।
' कुरु-राज, कालसे डर कर तो कुछ बोलो,
दो कुछ न भले, पर, मीठा तो मुँह खोलो ॥

फेंको न गरल-गंडूष महा परिषद में,
भूलो न मनुजता, भूल राज्य के मद में।
तुम प्रेम-माँग को कुत्सित भीख समझते ?
तुम प्रेम-पाठ को औंधी सीख समझते ?

तुम मत समझो वे पांडव दीन हुए हैं,
धन-धाम-हीन, क्षुत्क्षाम, अधीन हुए हैं।
वे धर्म-पुष्ट हैं, आत्मिक बल रखते हैं,
वे तुम-सा यद्यपि छद्म न छल रखते हैं॥

तुम हड़प गये हो अनय-द्यूत से उनका,
सर्वस्व विभव, छोड़ा न पास में तिनका।
क्या राज्य-सरीखी वस्तु जुओं में जाती ?
पर, धर्म-भावना क्या-क्या नहीं कराती ?

वे द्यूत-उऋण, कर्त्तव्य पाल निखरे हैं,
नव पंचानन के ग्रीव-बाल बिखरे हैं।
कुछ दिन को करलो मौज पराया लेकर,
पर, पिंड छुटेगा प्राण व्याज में देकर॥

मैं जान रहा था प्रथम, न तुम मानोगे,
तुम प्रेम-रत्न का मोल न कुछ ठानोगे।
पर याद रखो गांडीव कुपित अब होगा,
वह क्षुब्ध वृकोदर प्रकट क्षुभित अब होगा॥

इसका तो निर्णय कुरुक्षेत्र कर देगा,
उस समर-द्यूत में जो जीतेगा, लेगा।
तुम आज धर्मको और प्रेमको, नयको—
ठुकराकर—अपने आप बुलाते क्षयको ॥

धर काल रहा है बाण शाणपर अपने,
ये होंगे वैभव सकल रातके सपने।
तब लख लेगा संसार, कौन रोता है?
परिणाम वही जो आखिरमें होता है ॥

तुमने न सताया कम कुछ उन वीरोंको,
तुमने न फँसाया कहाँ धर्म-धीरोंको?
यह कूट नीति, यह चाल और चतुराई,
दिन चार टिका करती है कलुष कमाई ॥

क्या बाजीगरका धन हो टिकनेवाला?
क्या कागजका हो हाथी बिकनेवाला?
जो आज पराये धन पर ऐंठ रहे हैं,
कल वही दैन्य-सरितामें लखे बहे हैं ॥

जो चाहो अपनी कुशल, कीर्तिको अब भी—
सँभलादो उनका उनको—सुख है तब भी।
क्या नहीं आज भी वे स्वराज्य-अधिकारी?
क्या तुम्हीं निरे हो धराधीश, नृप-धारी?

जब तक न धनुष पर बाण चढ़ाए अपने—
वह पार्थ, युद्धमें अश्व बढ़ाए अपने ।
जब तक न भीमकी गदा घूमने पाए,
जब तक न काल ये विभव चूमने पाए ॥

कुरु-राज, तभी तक अवसर है अपनालो,
ये बिछुड़े बांधव अब भी गले लगालो ।
कुरु-वंश-देव, धृतराष्ट्र, आप ही बोलो,
इन मेरे वचनोंको कुछ तुम भी तोलो ॥"

" ये सत्य वचन हैं, हित-कर मेरे कुलके,
मैं कौन तोलनेवाला वाक्य अतुलके ?
है बेटा, इसमें धर्म, प्रेम, हित अपना,
यह कृष्णदेवकी अमृत झर रही रसना ॥

सुत दुर्योधन, तुम इसको कुछ पहचानो,
हित जानो, मानो, हठ न व्यर्थ यों ठानो ।"
वह ब्रह्मचर्यका तेज, लिये युग-माला,
मन मान-सरोवर-सा अति स्वच्छ निराला ॥

अति भव्य उच्च सिंहासनपर से उठकर,
श्री भीष्मपितामह बहे यथा दृढ़ निर्झर ।
" जो कृष्णदेवके वचन गये ठुकराये,
कल देखोगे फिर काल न यहाँ अघाये ॥

यह भरत-वंशकी सहज रक्षिणी बाणी,
सिर धरो सुयोधन, यह सहजा कल्याणी।
तुम विभव-पलासी फूलोंसे मत फूलो,
इस पारिजातकी मूल पकड़कर झूलो॥

मत छिपी आग हे दुर्योधन, भड़काओ,
कुरु-कुलको रे! रे! होते नष्ट, बचाओ।
तुम नहीं जानते बली भीमकी काया,
तुम नहीं जानते इसकी प्रबला माया॥

तुम नहीं जानते अर्जुनके बाणोंको,
तुम नहीं जानते कृष्णाके प्राणोंको।
तुम नहीं जानते मर्म युधिष्ठिर-उरका,
तुम नहीं जानते धर्म, धर्म-माँ-उरका॥

मैं देख रहा एकत्र शक्तियाँ सारी,
हैं जब-तब ये सम्राट्, न कहो भिखारी।"
सुन कृष्ण-वाक्यका अपनोंसे अनुमोदन,
अति शकुनि-संघके उरमें हुआ प्रतोदन॥

जिस भाँति वृकोंका संघ निकल चल पड़ता,
जिस भाँति दुग्ध हो उष्ण उछल चल पड़ता।
"इस पार्थ-सूतके वचन न मैं सुन सकता,
इस तप्त गिरासे मैं न अधिक भुन सकता॥"

"तुम सच कहते हो कर्ण," दुशासन बोला।
"यह कृष्ण सदा ही रहा व्यर्थ बड़बोला।"
तब कहा शकुनिने—"कलह-मूल तो यह है,
इस महा शांतिमें प्रखर शूल तो यह है॥"

"यह चला बाँधने हमको, क्यों न इसे हम—
लें बाँध, सुयोधन बोला, सब दुख हों शम।"
सब 'हां, हां, हां, हां,' बोले हर्षित होकर॥
कुरु-वंश-नाशका बीज गुप्त यों बोकर॥

सिर-मुकुट स्वर्णका झल-मल, झल-मल करता,
कानोंका कुंडल युग्म प्रकाश वितरता।
उद्ग्रीव, भाल सुविशाल, वक्ष अति चौड़ा,
ले, कर्ण खड़ा होगया, कु रसना-कोड़ा॥

"यह बनियेकी दूकान न जूआ-घर है,
यह वीरोंकी है सभा, हथेली सर है।
हैं यहाँ शीशके सौदे ही बस होते,
क्यों व्यर्थ समय हैं आप यहाँ पर खोते॥

जो प्राप्य बाणसे, मिले कभी वाणीसे?
हे कृष्ण, आप जा कहिये संधानीसे।
कुरु-राज कह चुके बात वही निश्चय है,
रण-न्यायालयका निर्णय ही निर्णय है॥"

कह, चला कर्ण, उठ चला साथमें मंडल,
मच गई सभामें एक दुख-भरी हलचल।
जा, लगे योजना करने हरि-बंधनकी,
उस गुणातीत, गुण-धाम, विश्व-वंदनकी॥

संकेत सात्यकी-द्वारा हरिने पाया,
हरि ताड़ गये उस चतुष्पुटीकी माया।
आँखोंमें छाया तेज, वदनपर विकसन,
उपहास-भरा होठोंपर विलसा विहसन॥

"लो चलो, बाँध लो मुझको कौरव वीरो!
तुम बर्त्तो सब बर्त्ताव देख लूँ धीरो!
बाँधा था मेरी माँको और पिताको,
उस मामाकी भी दशा तनिक तो ताको॥

तुम मुझे बाँधने चले बड़ी मुदिता है,
दो-चार गँवा कर कुरु-कुल तो बचता है।
मैं इन न बंधनोंके बंधनमें आऊं,
कुरु-राज! बांधनेकी लो रीति बताऊं॥

सब पुण्य-लोह उर-भट्ठी बीच लगाए,
निज दुष्कर्मोंका इंधन वहाँ जँचाए।
धर प्रेम प्रखर-चिनगारी चितसे फूँके,
दिन-रात विरह-उच्छ्वास-धोंकनी धूँके॥

यों रहे सिलगती भट्ठी ज्वलित निशानी,
वह लोह वह चले होकर पानी-पानी।
उन अश्रु-कणोंकी दृढ़तर कड़ियां होंगी,
उस लम्बी साँकलकी हथकड़ियां होंगी॥

इस साँकलसे ही बाँधा, जिसने बाँधा,
मैं विंधा वहीं पर, जिसने यह शर साँधा।
मैं इसी शृंखलासे हूँ बन्दी उनका,
तुमको न कुरुपते! नाम सुहाता जिनका॥

बाँधा, न मुझे किस-किसने इस साँकलसे?
मैं, कहो, बँधा था औखल, किस साँकलसे?
मैं लाज छोड़कर नचा गोपियों-द्वारा,
मैं प्रेम-खेलमें कब न कहाँपर हारा?"

सुन रहे भक्तवर भीष्म आदि जन सारे,
वह चले दृगोंसे निर्मल नीर पनारे।
"कब जाति-पाँति, रँग-रूप देखता मैं हूँ।
कब विभव, साख-सम्बंध लेखता मैं हूँ?

बस, एक प्रेमका साख देखता मैं हूँ,
इस बिना विभव सब राख देखता मैं हूँ।
क्या कुब्जा की कुछ जाति, रूप, गुण-राशी?
क्या गया न उसके गेह, बना रूक्षाशी?

क्या रखते कुल, धन, विदुर, बतादे कोई ?
मैं अतिथि उसीका, मुझे गिरादे कोई ?
यह पक्षपात मुझमें न, तुम्हींमें बसता,
मैं देख रहा हूँ इससे सर्व विनशता ॥

क्या मुझको सकती बाँध शृंखला लौहिक ?
तुम किये हुए हो व्यर्थ धारणा मौहिक ।
अच्छा लो, जाता हूँ प्रणाम है मेरा,
यह वाक्य विभव ने उनके साथ बिखेरा ।

“ अच्छा लो जाता हूँ प्रणाम है मेरा, ”
दिग्-दिग् में गूँजा रव “ प्रणाम है मेरा । ”

गर्ज्जना

“ हे कृष्ण ! कहो क्या लाये ?
रीते कि भरे तुम आये ?
मिश्री कि समर के चावल ?
है मेरे चित्त उतावल ॥ ”

सुन वचन पार्थ-माता के,
हरि गर्जे अवसर पाके ।
“ री ! कुरु-क्षेत्र लाया हूँ,
मैं रिक्त नहीं आया हूँ ॥

धधकेगी अब तो ज्वाला,
है सभी बदलनेवाला ।
मैं चौसर खिलवाता हूं,
शर-पासे गिरवाता हूं ॥

वे प्रेम-प्रवणता कैसी ?
क्या समझें, मति है ऐसी ?
वह लोह न यों पिघलेगा,
अब काल उन्हें चिगलेगा ॥

री ! धैर्य धरो तुम मन में,
फल आजाता कुछ दिन में ।
दो मुझको आशीर्वाणी,
जो देती हैं क्षत्राणी ॥"

ज्यों सहकर सिंहनी गोली,
दृग आग उगलती बोली—
"उन मेरों से कह देना,
अपयश न जगत में लेना ॥

जिस हेतु प्रसवतीं माता,
सुत देख विकसतीं माता ।
जिस हेतु नगारे बजते,
सुत हुआ जान सुर हँसते ॥

वह दिवस आज है आया,
जो अमित तपों से पाया।
तुम मर जाना, मिट जाना,
पर, वीरों को न हँसाना ॥

यदि हो न समर अपनाना,
माँ, कह न मुझे बतलाना।
मैं भीख मांग खाऊँगी,
सौ भाँति प्राण पालूँगी ॥

मैं प्राणों को तज दूँगी,
पर, 'का'—जननी न सुनूंगी।
अब धर्म न और रहा है,
अब कर्म न और रहा है ॥

धर और तपस्वी बाना,
मत मेरा दूध लजाना।
कब फलें लोरियां मेरी,
घिस गई पोरियां मेरी ॥

रे अर्जुन! बदला लेना,
जगती को बतला देना।
हा! मेरी नवल वधूटी,
वर्षों से मुझसे छूटी ॥

उनकी तो प्रासादों में—
हँसती हैं! आह्लादों में।
पर, मेरी वह बहू रानी,
रो-रोकर भरती पानी!

रे भीम! मर गया जीता?
यों बैठा आँसू पीता।
तू अधिराजों का बेटा,
यों आज साँथरी लेटा?

सुत, नाम युधिष्ठिर तेरा,
फिर क्यों युधसे मुँह फेरा?
तुम देव-संतती होकर—
यों बैठे निजता खोकर!

सुर तुम्हें हँसेंगे सारे!
हों लज्जित पितर तुम्हारे।
जो वर्ण-धर्मको छोड़ा,
जो सहज सूत्रको तोड़ा॥

वे जल न तुम्हारा लेंगे,
अभिशाप तुम्हें वे देंगे।
है पाप-पुण्य-परिभाषा—
कालानुसारिणी—व्यासा॥

कल था जो पुण्य कहाता,
वह आज पाप दिखलाता।
बस, समय, धर्म कहलाता,
वह तत्सँग आता-जाता ॥

सब काल धर्म-नद बहता,
पर, रूप बदलता रहता।
तपमें कि भवनमें, रणमें,
सर्वत्र धर्म सब क्षणमें ॥

जो पालनीय था पाला,
अब बाट देखती ज्वाला।
हवि दो उसको बन 'होता',
फल देखो जो कुछ होता ॥

भारत! साधन प्रबल सँभाल।
क्षीर पिये का ऋण शोधन कर, काट पाश विकराल।
मैं वीरों की जननी होकर पराधीन, बेहाल!
आग लगा दे हुंकारों से, जला अनय का जाल।
इन्हें पुष्ट कर, मेरे भावों का सूखा कंकाल।
सागर का अभिमान मिटादे, गर्ज रहा उत्ताल।
लहर-लहर में निकलें लपटें, वह चिनगारी डाल।
तेरी हुंकृति में बसता है, कालों का भी काल।
तेरा मार्ग-प्रदर्शक जब है यह साथी गोपाल।

हे कृष्ण, उन्हें समझाना,
अब तजें तपस्वी बाना ।
है इतना मेरा कहना,
अब पराधीन मत रहना ॥

हे यदु-कुल-भूषण, तेरा,
मुझको विश्वास घनेरा ।
तू ने ही उन्हें बचाया,
जब-जब भी अवसर आया ॥

वे पाँचो आश्रय तेरे,
तू समझ बंधु या चेरे ।
दिलवादे उनका, उनको,
दिखलादे यह जन-जनको ॥

यों पाप-पुण्य फलता है,
यों कर्म-चक्र चलता है ।
तू सदा सत्यका पक्षी,
तू धर्म-लक्ष्यका लक्षी ॥

जो तुझे जँचे वह करना,
इस बूआको न बिसरना । "
भर आँखें डब-डब आईं,
तप-शुद्ध सलिल भर लाईं ॥

वह पिघला लौनी-गोला,
यों वाक्य सरस तम बोला—

सान्त्वना

धैर्य धरो दिन आते हैं री !
धर्म-पुत्र सिर चँवर ढुलेगा,
ये दिन तो अब जाते हैं री !

भारत-माँ ! हथकड़ियां तेरी—
काँच-तुल्य हो टूट गिरेंगी।
छेनी और हथोड़े, रेती—
मेरे हाथ बनाते हैं री !

ये मदमत्त मतंगज कब तक—
इस वन को वीरान करेंगे ?
पंचानन अब उठे नींद से,
देख प्रबल अँगड़ाते हैं री !

अशुभ, अमंगल के दिन बीते,
बीती बलती बिषम रजनियां।
मंगल, मोद, विनोद, सौख्य के—
बादल सिर धर्राते हैं री !

पाप, ताप अभिमान जलेंगे,
पनपेंगे गत-पत्र सुपादप।
देव दुंदुभी बजा बजा कर,
मंगल-भाव जनाते हैं री !

कविवर गूँथ रहे नव माला,
तुझे पिन्हाने को रस-भीनी।
विजय-गान करने को तेरा—
गायक कंठ जमाते हैं री !

शुभम्